निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ

NIRMAL VERMA KE KATHA-SAHITYA MEIN ABHIVYAKT YATHARTH

(EXPRESSION OF REALITY IN THE FICTION OF NIRMAL VERMA)

पीएच. डी. (हिन्दी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध
(Thesis for the Degree of Ph.D)

शोध-निर्देशक
डॉ. राजेश कुमार पासवान

शोधार्थी
संगीता कुमारी

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं सांस्कृतिक अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
दिल्ली-110067

2019

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Date: 07/05/2019

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this PhD Thesis entitled "NIRMAL VERMA KE KATHA-SAHITYA MEIN ABHIVYAKT YATHARTH" (निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ"), "EXPRESSION OF REALITY IN THE FICTION OF NIRMAL VERMA" submitted by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Sangita Kumari

Sangita Kumari
(Research Scholar)

Rajesh

Dr. Rajesh Kumar Paswan
Supervisor
CIL/SLL&CS, JNU

Prof. Sudheer Pratap Singh
Acting Chairperson
CIL/SLL&CS, JNU

निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ

अनुक्रम

Declaration i

आभार ii-iii

भूमिका 1-8

अध्याय एक: निर्मल वर्मा: व्यक्तिव्य और कृतित्व 9-68

क. निर्मल वर्मा के उपन्यास

अ. *वे दिन* (1964)

आ. *लाल टीन की छत* (1974)

इ. *एक चिथड़ा सुख* (1979)

ई. *रात का रिपोर्टर* (1989)

उ. *अंतिम अरण्य* (2000)

ख. निर्मल वर्मा की कहानियाँ

अ. *परिंदे* (1958)

आ. *जलती झाड़ी* (1965)

इ. *पिछली गर्मियों में* (1968)

ई. *बीच बहस में* (1973)

उ. *कव्वे और काला पानी* (1983)

ऊ. *सूखा तथा अन्य कहानियां* (1995)

अध्याय दो: हिंदी कथा-साहित्य: परम्परा और अद्यतन विकास 69-135

क. कहानी

अ. विकास युग/प्रेमचंद पूर्व युग

आ. प्रसाद की कहानियाँ

इ. प्रेमचंद युग

ई. प्रेमचंदोत्तर युग

उ. स्वातंत्रोत्तर कहानियाँ

ऊ. सामाजिक और यथार्थवादी कहानियाँ

ऋ. आधुनिक भावबोध कि कहानियाँ

ऌ. आंचलिक कहानियाँ

ऍ. समकालीन कहानी

ख. उपन्यास

अ. प्रेमचंद पूर्व युग

- उपदेश प्रधान सामाजिक उपन्यास
- शुद्ध मनोरंजनात्मक, तिलस्मी, ऐयारी एवं जासूसी उपन्यास
- ऐतिहासिक उपन्यास

आ. प्रेमचंद युग

- सामाजिक उपन्यास
- ऐतिहासिक उपन्यास
- मनोवैज्ञानिक उपन्यास

इ. प्रेमचंदोत्तर युग

- सामाजिक उपन्यास
- मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास
- ऐतिहासिक और प्रगतिशील उपन्यास
- आंचलिक उपन्यास
- आधुनिकता बोध

अध्याय तीन: यथार्थ: अर्थ, स्वरूप और विवेचन 136-162

क. यथार्थ और 'यथार्थवाद'

ख. यथार्थवाद की पृष्ठभूमि एवं हिंदी साहित्य

ग. यथार्थ के रूप

अ. **प्रकृतवाद**

आ. अतियथार्थवाद

अध्याय चार: निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त यथार्थ 163-200

क. निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ

अ. पारिवारिक जीवन

आ स्त्री-पुरुष संबंध

इ बेरोजगारी

ई **मूल्य विघटन**

उ. समाज में व्याप्त मान्यताएँ, रीति-रिवाज एवं परम्पराएँ

ऊ. मृत्युबोध

ख. निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक यथार्थ

अ. अकेलापन

आ. प्रेम के प्रति नवीन दृष्टिकोण

इ. **अस्मिता की तलाश**

अध्याय पाँच: निर्मल वर्मा के उपन्यासों में अभिव्यक्त यथार्थ 201-241

क. निर्मल के उपन्यासों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ

अ. मूल्य विघटन

आ. **बेरोजगारी**

इ. **पीढ़ियों का संघर्ष**

ई. दांपत्य जीवन

उ. **नगर बोध चित्रण**

ऊ. **धार्मिक मान्यताएं एवं परंपराएं**

च. **संस्कृतियों का अंतर**

ख. निर्मल वर्मा के उपन्यासों में अभिव्यक्त वैयक्तिक यथार्थ

अ. **अस्तित्ववादी चिंतन**

आ. **अकेलापन**

इ. गृह वितृष्णा

ई. मृत्यु बोध

उपसंहार 242-250

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 251-259

आभार

ईश्वर की असीम अनुकंपा और माता-पिता के आशीर्वाद से मैं इस शोध कार्य को पूरा करने में सक्षम हुई हूँ। यह मेरा सौभाग्य है कि इस अवसर मुझे अपने शोध-निर्देशक डॉ. राजेश कुमार पासवान का आभार व्यक्त करने का अवसर मिला है। उनके विद्वतापूर्ण पर्यवेक्षण, असीम धैर्य, प्रयास और निरंतर प्रोत्साहन के कारण ही मैं यह शोध कार्य पूर्ण कर पायी हूँ। मैं प्रोफेसर रामबक्ष जाट, जिनके निर्देशन में मैंने इस शोध कार्य की शुरुआत की थी, का भी हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। उनसे मिले पिता का स्नेह एवं उनका विशाल अनुभव भी इस शोध कार्य में अमूल्य साबित हुआ। मैं भारतीय भाषा केंद्र के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर ओम प्रकाश सिंह, के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करना चाहूंगी जो सदैव मेरे लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन के स्रोत रहे हैं। मैं इस केंद्र के अन्य सभी शिक्षकों का भी धन्यवाद करती हूँ, जिनके स्नेह और मार्गदर्शन की वजह से लगभग नौ वर्षों तक मैं इस विश्वविद्यालय में सर्वाइव कर पायी।

मैं अपने पति श्री अभिषेक कुमार जो मेरे लिए सदैव प्रेरणा-स्रोत रहे, जिनके अगाध विश्वास, और निरंतर मिले सहयोग के कारण विपरीत परिस्थितियों में भी मैं अपने कार्य के प्रति समर्पित रह सकी; का भी आभार प्रकट करती हूँ। मेरी बेटी आरना जिसके सामान्य सी उत्सुकता और मुस्कुराहट ने मुझे हमेशा ऊर्जावान बनाए रखा।

मैं अपनी बहन अलका का विशेष रूप से आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, साथ ही बहन अर्चना और भतीजी शालिनी का भी आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने पारिवारिक

जिम्मेदारियों से मुक्त रखकर इस शोध कार्य को पूरा करने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया जिसे सिर्फ शब्दों में व्यक्त कर पाना कठिन है। मैं अपने परिवार के अन्य सदस्यों को उनके निरंतर प्यार और समर्थन के लिए धन्यवाद देना चाहूंगी जिन्होंने हर मुश्किल घड़ी में मेरा साथ दिया।

मैं प्रख्यात शिक्षाविद प्रो. मृणाल मिरि, प्रो. सुज़ाता मिरि एवं दर्शनशास्त्र केंद्र, जे.एन.यू. की अध्यक्षा प्रो.बिंदु पुरी को भी धन्यवाद देना चाहती हूँ जिन्होंने मेरे शोध कार्य में रुचि दिखायी और हमेशा मुझे प्रोत्साहित किया। मैं हिंदी विभाग, अदिति महाविद्यालय के सभी प्राध्यापिकाओं विशेषकर डॉ. कमलेश वाधवा, डॉ. नीलम राठी और डॉ. आशा का धन्यवाद करना चाहती हूँ जिन्होंने मेरे शोध कार्य को ध्यान में रखकर यथासंभव विभागीय ज़िम्मेवरियों से या तो मुक्त रखा या सहयोग किया।

मैं अपने मित्र और सहपाठी धीरेंद्र, जैनेंद्र, शिव, रामानुज, मंजू और देव का भी धन्यवाद करना चाहती हूँ जिन्होंने मेरे शोध को पूरा करने में दिलचस्पी दिखाई। पुनः मैं भारतीय भाषा केंद्र के श्री रावत जी और रमेश जी का उनके अनवरत सहयोग और तकनीकी जानकारियों से अवगत करवाने के लिए धन्यवाद करती हूँ। अंततः मैं उन सभी का आभार व्यक्त करती हूँ जिनका किसी भी कारणवश मैं यहाँ नाम नहीं ले पायी हूँ।

संगीता कुमारी

भूमिका

स्वतांत्र्योत्तर हिंदी साहित्यकारों में निर्मल वर्मा उन गिने-चुने लेखकों में से हैं जिन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया में हिंदी के रचना संसार को केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं वरन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। निर्मल वर्मा एक अग्रणी रचनाकार के साथ-साथ समकालीन बुद्धिजीवियों में भी गिने जाते हैं। भारतीय साहित्येतिहास में निर्मल वर्मा की रचना प्रक्रिया एक संक्रमणकालीन दौर की पृष्ठभूमि में सृजित है। वैश्विक स्तर पर द्वितीय विश्व युद्ध का परोक्षतः प्रभाव, उत्तर औपनिवेशिक भारत जहाँ जैसे-तैसे मिली स्वतंत्रता के कारण सिर्फ राजनीतिक उथल-पुथल ही नहीं हुए वरन सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन भी हुए। इन परिवर्तनों ने वैचारिक संघर्ष की एक आधारशिला निर्मित की जिसने तत्कालीन रचनाकारों को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। आज़ादी के बाद इस सच्चाई पर से पर्दा धीरे-धीरे उठने लगा था कि केवल स्वतंत्रता को पाकर बहुत दिनों तक खुश नहीं रहा जा सकता। यही वह समय है जब आर्थिक दबावों के कारण और बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भारतीय चरित्र बाहर से कुछ और तथा भीतर से कुछ और दिखने लगा। ऊपर से शासन का स्वरूप समाजवादी था जो आज भी है किन्तु आतंरिक रूप से उसकी बुनियाद पूंजीवाद पर ही टिकी थी। थोपी हुई औद्योगिकीकरण के कारण शहरीकरण और महानगरीकरण की प्रक्रिया द्रुत गति से चली। इस प्रक्रिया ने जहाँ शहरी मध्यवर्ग को जन्म दिया वहीँ पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव ने बौद्धिकता को एक नयी दिशा भी दी। फलतः रचनाओं

में ऊब, संत्रास, निराशा, कुंठा एवं सेक्स के नंगेपन को चित्रित किया जाने लगा। हालाँकि इन तत्वों के साथ इस दौर के रचनाकारों ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर भी लिखा।

निर्मल वर्मा 50 के दशक के रचनाकार हैं। निर्मल वर्मा ने जब अपनी रचना यात्रा आरम्भ की उससे पहले 'गद्य' एक विधा के रूप में पूर्णरूपेण स्थापित हो चुकी थी। प्रेमचंद पूर्व के गद्य (उपन्यास, कहानी) में कौतूहल, मनोरंजन, तिलिस्मी, जासूसी या समाज सुधार की प्रवृत्तियां ही मुख्य रूप से दिखती थी। प्रेमचंद पहले कथाकार थे जिन्होंने अपनी रचनाओं को यथार्थ की जमीन से जोड़ा। उनके यहाँ व्यक्ति-चरित्र और आदर्श महत्वपूर्ण थे इसलिए यहाँ मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और सामाजिक यथार्थवाद एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। प्रेमचंद के बाद मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद मनोविश्लेषणवाद से विशेषीकृत होकर जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि रचनाकारों के लेखन में मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद के रूप में विकसित हुआ। प्रेमचंद का सामाजिक यथार्थवाद मार्क्स के सामाजिक दर्शन से विशेषीकृत होकर समाजवादी यथार्थ के रूप में यशपाल, अमृत राय, भैरव प्रसाद गुप्त आदि की रचनाओं में परिलक्षित हुआ।

निर्मल वर्मा की रचनात्मकता इनके समानांतर भी है और इनसे भिन्न भी। निर्मल वर्मा की रचनाओं में व्यक्ति की द्वंद्वात्मक मनःस्थिति को केंद्रीयता प्रदान की गयी है। इसलिए व्यक्ति की निजी सूक्ष्म संवेदनाएं यहाँ ज्यादा उभर कर आई हैं। हालाँकि इसके साथ-साथ समाज, परंपरा, विचारधारा, नैतिकता, सम्प्रेषणीयता, प्रासंगिकता, भाषा-रूढ़, यथार्थ, कल्पना, कला, संस्कृति, फिक्शन, इतिहास, मिथक, यथार्थ आदि की चिंता भी यहाँ

मौजूद है। मनुष्य की संवेदनाओं में समाज और उसके तत्वों का क्या योगदान है या टूटता और सिमटता मनुष्य समाज को किस प्रकार प्रभावित करता है इस दृष्टि से निर्मल वर्मा की रचनाएँ अद्वितीय हैं, और बदलते सामाजिक परिवेश में शोध की नयी संभावनाओं से भरी हुई हैं।

“निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य में अभिव्यक्त यथार्थ" शीर्षक शोध-प्रबंध में मुख्य रूप से निर्मल वर्मा की कहानियों एवं उपन्यासों को आधार बनाया गया है । यह शोध कार्य अंतर-अनुशासनिक है क्योंकि यहाँ साहित्य के साथ-साथ यथार्थ को परखने के लिए अन्य अनुशासनों का भी प्रयोग किया गया है । निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य में यथार्थ का स्वरुप क्या है? वह व्यक्ति का यथार्थ है या समाज का? यदि यथार्थबोध का संबंध जीवन की वास्तविकता से है और समाज की समस्याओं से है तो क्या व्यक्ति उस समाज की इकाई नहीं है? ऐसे कई जीवंत प्रशों पर इस शोध कार्य में विचार किया गया है।

निर्मल वर्मा की रचनाओं में यथार्थ की तलाश इसलिए भी महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है क्योंकि इनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के साथ-साथ यूरोपीय संस्कृति का भी प्रस्फुटन दिखता है। ऐसा सम्भवतः इनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण साथ ही यूरोप में बिताए गए अच्छे-खासे समय (1959-70) के कारण रहा है। इस समय भी ये अंग्रेजी-हिंदी पत्रिकाओं के लिए लेख लिखते रहे थे। अधिकांश लेख पूर्वी और पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से सम्बंधित थे। यही नहीं अज्ञेय, चेखव, तुर्गनेव आदि की रचनाएँ उन्हें अच्छी लगती थी और वे इनसे प्रभावित भी थे। साथ ही

भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों और विचारकों ने भी उनकी ज्ञान सम्पदा को समृद्ध किया था।

निर्मल वर्मा के साहित्य कर्म पर कुछ आलोचकों को छोड़ अधिकांश आलोचकों ने रचना के भाव पक्ष की अपेक्षा उसमें निहित शिल्पगत विशिष्टता की सराहना की है। डॉ. नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा की पहली कहानी संग्रह 'परिंदे' को नयी कहानी की पहली कृति माना है और इनकी कहानियों की समीक्षा की है जो आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। उल्लेखनीय है की जिस लेखक के लेखन से किसी आंदोलन की शुरुआत होती है उसी लेखक पर यह भी आरोप लगता है कि उनकी रचनाएँ यथार्थ से परे हैं। क्या इनकी रचनाएँ हिंदी आलोचना की विवशता को दर्शाता है जहाँ आलोचकीय मानदंडों की कमी है या आलोचना के सामने एक नयी चुनौती की तरह है? क्या इस अंतर्विरोध को युग विशेष के अंतर्विरोध के रूप में देखा जा सकता है? इन सभी पहलुओं पर इस शोध कार्य में बात की गयी है।

निर्मल वर्मा की विशेषता यही है कि इन्होंने न सिर्फ साहित्य की चली आ रही परंपरागत परिपाटी को आगे बढ़ाया वरन इसे तोड़ा भी। ये एक ऐसे गद्यकार हैं जिन्होंने गद्य की लगभग हर विधा पर लिखा। चाहे उपन्यास हो, कहानी, निबंध, नाटक, यात्रा-संस्मरण एवं डायरी। कुछ रचनाकारों पर दिए गए इनके विचार आलोचनात्मक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। निर्मल वर्मा के लेखन के केंद्र में सदैव व्यक्ति रहा है। निर्मल वर्मा के शब्दों में "मनुष्य का मनुष्य के रूप में जीना ही एक सतत तनाव में जीने की प्रक्रिया है।.... जिन्हें हम परंपरागत समाज कहते हैं वहां पर व्यक्ति का यह तनाव उस अनुपात में नहीं होता जितना कि औद्योगिक समाजों में। वहां व्यक्ति सचमुच उन सन्दर्भों से और उन

पारिवारिक सम्बन्धों से अलग हो गया है जो एक समय में उसे एक तरह का संरक्षण देते थे। परिवार में जीने वाला आधुनिक हिन्दू व्यक्ति उस अर्थ में व्यक्ति नहीं है जितना कि माँ बाप से अलग अकेला वह व्यक्ति जो अपने बलबूते पर, अपनी क्षमताओं से जीने वाला है। एक पश्चिमी व्यक्ति। क्योंकि मेरी कहानियों के पात्र अक्सर शहरी जीवन से आते हैं इसलिए यह अपने में एक दिलचस्प विषय हो सकता है कि इस 'व्यक्तित्व' का बोझ या इसकी यातना को वे अपने सम्बन्धों में किस तरह से वहन कर पाते हैं और मैं उन्हें किस तरह से अभिव्यक्त कर पाया हूँ।"[1] यही कारण है कि निर्मल वर्मा की अधिकांश रचनाओं में अकेली पड़ गयी संवेदना और व्यक्ति मन-मष्तिष्क की अतल गहराइयों एवं मानसिक तनावों का यथार्थ चित्रण है। जिसमें अकेलापन, अजनबीपन, भय, संत्रास, मृत्यु-बोध, निर्वासन, सम्बन्धों की टूटन, उनकी उदासीनता, पारिवारिक विघटन, नैतिक सम्बंधित दृष्टिकोण अलग रूपों में प्रस्तुत हुआ है। पर क्या जीवन इन नकारात्मकताओं की ही गठरी है? मनुष्य सदैव इनसे उबरना चाहता है और इस क्रम में वह कभी प्रकृति की ओर जाता है, कभी संगीत की ओर जाता है, कभी प्रेम में अपनी सार्थकता ढूंढने का प्रयास करता है तो कभी शराब, बीयर, कैसिनो आदि में समय व्यतीत करता है या कभी नितान्त सूनेपन में अपने आप को ढूंढने की कोशिश करता है। इन सभी से जूझते हुए व्यक्ति का यथार्थ का स्वरुप कैसा होगा?

साधारणतः जीवन के जिस यथार्थ को हम उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं निर्मल वर्मा ने उन्हें

[1] डॉ. अशोक वाजपेयी (सं.) *निर्मल वर्मा,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990, पृ. 26-27

बहुलता में अपनी कृति में स्थान दिया है। बचपन की स्मृतियाँ तो कई रचनाकारों को आकर्षित करती हैं लेकिन इन्होंने बचपन की स्मृतियों को भी सिर्फ मनोरंजन, क्रीड़ा और रोचकता तक सीमित नहीं किया है। इन्होंने वयःसंधि के बदलावों को महसूस करती हुई लड़की, माँ की मृत्यु के पश्चात पिता के जीवन में किसी गैर औरत की उपस्थिति के बीच अपनी पहचान को तलाशता किशोर या बचपन के निश्छल संस्मरणों के साथ- साथ, बुढ़ापा, बीमारी, मरणासन्न अवस्था और और मृत्यु संबंधी शाश्वत प्रश्नों को केंद्र में रखा है। मृत्यु और जीवन का यह अनिवार्य और आत्मीय सम्बंध उनकी कृतियों में एक नए यथार्थ और अंतर्दृष्टि की तलाश है।

यह शोध कार्य मुख्य रूप से पाँच अध्याओं में विभक्त है। "निर्मल वर्मा: व्यक्तित्व और कृतित्व" शीर्षक प्रथम अध्याय में निर्मल वर्मा के व्यक्तित्व व कृतित्व का विस्तृत परिचय दिया गया है । उनकी रचनाओं को समझने के लिए उनके जीवन की जानकारी होनी आवश्यक है। इस अध्याय में उनकी मान्यता, विचारधारा तथा उनके जीवन दर्शन को समझने के लिए उनके कथा-साहित्य संसार का संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में दिया गया है ।

"हिंदी कथा-साहित्य परम्परा और अद्यतन विकास" शीर्षक द्वितीय अध्याय में हिंदी साहित्य में विशेषकर गद्य साहित्य में कहानी एवं उपन्यास के क्रमिक विकास को समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही बदलते सामाजिक और वैयक्तिक परिवेश को इन विधाओं ने किस प्रकार आत्मसात किया है इस पर भी विचार किया गया है। किसी भी

रचना को समझने के लिए उसके संदर्भों को भी समझना आवश्यक है। इस अध्याय में निर्मल वर्मा की रचनाएँ किस पारम्परिक ढाँचे पर टिकी हुई हैं और उन तक आते-आते उसमें क्या परिवतन आए हैं इस पर विचार किया गया है।

“यथार्थ: अर्थ, स्वरुप एवं विवेचन” शीर्षक तृतीय अध्याय में यथार्थ को अवधारणा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है । यथार्थ के स्वरुप-विश्लेषण करने के पश्चात यथार्थ के वास्तविक एवं कला-रूप को भी स्पष्ट करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है ।

“निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त यथार्थ” शीर्षक चतुर्थ अध्याय में निर्मल वर्मा की कहानियों में यर्थाथ की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है इसकी पड़ताल की गयी है । निर्मल वर्मा ने जब अपनी रचना यात्रा आरम्भ की उससे पहले कहानी एक शुद्ध विधा के रूप में स्थापित हो चुकी थी। प्रेमचंद पहले कथाकार थे जिन्होंने कहानी को यथार्थ की जमीन से जोड़ा। प्रेमचंदोत्तर साहित्य में वैयक्तिकता का महत्व बढ़ता गया। जैसे-जैसे समय बदला परिवेश भी बदलता गया और बदलते हुए परिवेश ने दृष्टिकोण को भी बदल दिया। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन ने साहित्य में भी उल्लेखनीय परिवर्तन किया। मनोवैज्ञानिक यथार्थ के स्थान पर वैयक्तिक यथार्थ का चित्रण साहित्य में होने लगा। कहानी के विकास के इन चरणों के बाद नयी कहानी का आंदोलन आरम्भ होता है। निर्मल वर्मा नयी कहानी के अग्रणी कथाकारों में से एक हैं। इस अध्याय में निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त यर्थाथ के भिन्न-भिन्न रूपों को ढूंढने का प्रयास किया गया है । यह अध्याय दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खंड में निर्मल वर्मा की कहानियों में व्यक्त सामाजिक यथार्थ अर्थात समाज में

घटित होने वाली घटनाएं, नारी का स्वरुप, पारिवारिक सम्बन्ध, मनुष्य की भोगवादी प्रवृति व बदलती परिस्थितियों में जीवन के स्वरुप आदि को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है एवं द्वितीय खंड में इनकी कहानियों में व्यक्त वैयक्तिक यथार्थ को विश्लेषित किया गया है।

पंचम अध्याय का शीर्षक "निर्मल वर्मा के उपन्यासों में अभिव्यक्त यथार्थ " है। पिछले अध्याय की तरह यह अध्याय भी दो खण्डों में विभक्त है परंतु यहाँ विश्लेषण के केंद्र में निर्मल वर्मा के उपन्यास हैं । प्रथम खंड में निर्मल वर्मा के उपन्यासों में व्यक्त सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक यथार्थ को विश्लेषित करने का प्रयास है एवं द्वितीय खंड में इनके उपन्यासों में व्यक्त वैयक्तिक यथार्थ को प्रधानता दी गयी है । प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में प्रारम्भ हुई मनोवैज्ञानिक यथार्थ की धारा जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल तक आते-आते किन रूपों में परिवर्तित हुई है और निर्मल वर्मा के उपन्यासों में इनका प्रस्फुटन किस प्रकार हुआ है इसे दिखाया गया है ।

उपसंहार में इन सभी अध्यायों से निकलइस प्रकार के निष्कर्षों को समेकित कर उसका विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय एक

निर्मल वर्मा: व्यक्तिव्य और कृतित्व

किसी भी लेखक की रचना संभवत: उनके अपने भोगे हुए यथार्थ की कलात्मक व साहित्यिक अभिव्यक्ति होती है । हालाँकि यह एक कठिन चुनौती भी होती है कि वह अपने अनुभवों का कितनी ईमानदारी से संप्रेषण कर पाते हैं। निर्मल वर्मा आधुनिक काल के उन अग्रणी रचनाकारों में से हैं जिन्होंने इन चुनौतियों का बख़ूबी सामना अपनी रचनाओं में किया है। निर्मल वर्मा ने इसे स्वीकार भी किया है। वे कहते हैं- "मुझे लगता है कि अब तक मैं जो लिखता आ रहा हूँ उसमें मेरा आत्मजीवन ही सबसे अधिक रूपान्तरित होकर आता रहा है ।"[1]

निर्मल वर्मा की रचनाओं से उनकी बौद्धिक जागरुकता का अहसास होता है। उनकी रचनाएँ कहीं-न-कहीं जीवन की समस्याओं से लड़ती हुई दिखती हैं। समकालीन समाज मे उठ रही समस्याओं एवं प्रश्नों से वे जिस पारदर्शिता से जूझते हैं वे उनकी रचना को एक अलग लेवल पर ले जाती हैं साथ ही उन्हें हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट पहचान भी दिलाती हैं। निर्मल वर्मा ख़ुद इसे महसूस भी करते हैं और लिखते हैं:- "हर लेखक की शुरुआत में उसका अंत छिपा रहता है और इन दोनों के बीच वह स्वयं है, पराजित भी विजेता भी । यातना भोगता हुआ, लेकिन उस यातना का दृष्टा भी ...एक उबड़-खाबड़ ज़मीन जिस पर उसकी समूची दुनिया बसी है ।"[2]

---

[1] अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 39

[2] निर्मल वर्मा, *दूसरी दुनिया*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, फ्लेप से

निर्मल वर्मा का जन्म 3 अप्रैल 1929 को शिमला में हुआ। उनके बचपन का अधिकांश हिस्सा शिमला की पहाड़ियों में ही बीता था। संभवत: इसी कारण पहाड़ उनके अवचेतन मन पर इस क़दर छाया हुआ था कि वह अपनी अधिकांश रचनाओं में पहाड़ का ज़िक्र करते हैं। निर्मल कहते हैं- “अर्से बाद मैं पहाड़ों को देखता हूँ, तो लगता है, वे मुझसे बात कर रहे हों- "तुम फिर आ गये ?"... और वै खड़े रहते हैं, सफेद, निस्संग और ख़ामोश, न मेरा मज़ाक उड़ाते हुए, न मुझ पर दया करते हुए... सिर्फ मेरे लिए प्रार्थना करते हुए कि मैं लौट आया हूँ।"[3]

निर्मल वर्मा के पिता अंग्रेज़ी हुकूमत में सरकारी कर्मचारी थे। निर्मल वर्मा के परिवार में उनके अलावा सात भाई-बहन और थे अर्थात पाँच बहन और तीन भाई के परिवार में निर्मल वर्मा सातवीं संतान थे। उनका बचपन काफ़ी लाड़ -प्यार में बीता। बड़ी बहन से उनका ख़ास लगाव रहा । अपने जीवन में बड़ी-बहन के योगदान पर निर्मल कहते हैं कि- “...जिन्होंने मुझे बहुत प्रेरित किया, और जो अब जीवित नहीं हैं, वे मेरी बड़ी बहिन थीं । उन्होंने पहली बार मुझे बहुत-सी चीजों के बारे में बताया, पुस्तकों के बारे में, लेखकों के बारे में । वे आठवीं कक्षा में थीं और मैं तीसरी कक्षा में । वह बहुत मेधावी छात्रा थीं । हर

[3] *पूर्वग्रह*, जुलाई-अक्टूबर, 1978, स. अशोक वाजपेयी, पृ. 7

साल पुरस्कार में उन्हें जो पुस्तकें मिलती थीं, उन पर सबसे पहले मैं कब्जा जमा लेता था । वे पत्रिकाएँ भी मँगवाती थीं।"[4]

अपने पालन-पोषण के सम्बंध में निर्मल कहते हैं- "हम पर माता पिता की ओर से कोई दबाव नहीं था क्योंकि उन्हें हम पर विश्वास था । इसके अलावा वे हमसे हमारी इच्छा के विरुद्ध कुछ करवाना भी नहीं चाहते थे। उस खुले वातावरण में रचनात्मक गतिविधियों के लिए भरपूर स्पेस था। हमारे पिता इस बात को लेकर ज्यादा चिंता नहीं करते थे कि हम कर क्या रहें हैं", निर्मल मुस्कराते हैं, "शायद इसकी वजह यह रही हो कि उन्हें हमसे बहुत अपेक्षाएं नहीं थीं।' माँ की उनकी गतिविधियों में उत्सुकता से भागीदारी रहती, वह पत्रिकाओं में उनकी लिखी कहानियाँ और उनके बारे में छपी हर चीज पढ़तीं ।"[5]

निर्मल वर्मा की प्रारम्भिक शिक्षा शिमला में ही हुई। उन्होंने दिल्ली के सेंट स्टीफेन्स कॉलेज से स्नातक की पढ़ाई की एवं इसी संस्थान से उन्होंने 1951 में इतिहास विषय से एम.ए. की शिक्षा भी पूरी की। तत्पश्चात उन्होंने कुछ दिन इसी महाविद्यालय में अध्यापन का कार्य भी किया। इसी दौरान उनका रूझान मार्क्सवादी विचारधारा की तरफ़ हुआ और उन्होंने भारतीय कॉम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। परंतु हंगरी की घटनाओं से आहत उनका मार्क्सवादी विचारधारा से मोहभंग भी हुआ और उन्होंने पार्टी की सदस्यता से त्यागपत्र भी दे दिया।

---

[4] गगन गिल (सं.)- *प्रिय राम* (निर्मल वर्मा के पत्र), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, पृ. 22

[5] वही, पृ. 162

लेखन की तरफ़ निर्मल वर्मा का जाना अनायास नहीं था। निर्मल कहते हैं- “लेखक बनने का कोई निर्णय किया हो ऐसा नहीं है। यह दिल्ली के वातावरण व साहित्यिक मित्रों के साथ से हुआ। कॉलेज के दिनों में हमने करोल बाग में एक 'कल्चर फोरम' बना रखा था। जिसमें मनोहर श्याम जोशी, नरेश मेहता, भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव जैद आदि थे। हर इतवार शाम हमारे फोरम की बैठकें होती थी जिसमें सभी अपनी-अपनी रचनाएँ सुनाया करते थे। रचनाओं पर बहस होती थी। इस सबके चलते मैं भी लेखन की तरफ मुड़ गया।"

एक साहित्यकार के रूप में निर्मल वर्मा की शुरुआत किस प्रकार हुई इस पर वे कहते हैं- “समय-समय पर दूसरे कामों में बहुत उलझा होने के कारण या उनसे मुक्ति पाने के लिए मैं लिखता था। एक ज़माने में जब मैं पढ़ता था या कॉम्युनिस्ट पार्टी में था, तो बहुत दबाब रहता था, लोगों से मिलने का, उससे बिलकुल अलग- एक बिलकुल व्यक्तिगत स्तर पर अपने भावनात्मक संसार में घुसने की सुविधा कहानी मुझे देती थी और यह शायद सबसे शुरू का एक सम्मोहन था।”[6]

निर्मल जी के कथा यात्रा का आरम्भ उनके कॉलेज के दिनों में ही हो गया था। “शुरु में तो स्कूल के दिनों में मैंने कुछ कहानियाँ लिखी थी, कुछ कहानियों से प्रेरित होकर या उनकी नकल में। लेकिन व्यवस्थित रुप से जो पहली कहानी मैं लिख पाया वह तब जब मैं सेंट स्टीफेन्स कोलेज में था। वहाँ से हिन्दी की एक पत्रिका प्रकाशित होती थी। मेरे भाई

[6] *सारिका*, जून 1978, (सं.) कनहैयलल नंदन, पृ. 6-7

रामकुमार को पता था कि मैं लिखता हूँ और उनके कहने पर इस पत्रिका के लिए मैने पहली कहानी लिखी।"[7] सार्वजनिक रूप से उनकी "रिश्ते" शीर्षक पहली कहानी का प्रकाशन 1953 में हुआ।

हिंदी के साहित्यिक जगत में निर्मल को 'परिंदे' शीर्षक कहानी ने एक विशिष्ट पहचान दिलाई। 1958 में 'परिंदे' का प्रकाशन अमृत राय द्वारा सम्पादित *हंस* में हुआ था। बाद में 'परिंदे' नाम से उनकी कहानियों का संकलन भी प्रकाशित हुआ। आलोचक नामवर सिंह ने 'परिंदे' की समीक्षा करते हुए इसे नई कहानी की पहली कृति और निर्मल वर्मा को नई कहानी का पहला कहानीकार घोषित किया।

1959 में निर्मल वर्मा चेकोस्लोवाकिया के प्राच्य विद्या संस्थान और चेकोस्लोवाक लेखक संघ के निमंत्रण पर चेकोस्लोवाकिया गए । वहाँ जाकर उन्होंने चेक साहित्य का अध्ययन किया और कई चेक कथाकृतियों का हिन्दी में अनुवाद भी किया । वह 1968 तक चेकोस्लोवाकिया में रहे, तदुपरांत वे लंदन गए। अपने लंदन और यूरोप प्रवास के दौरान वे 'टाइम्ज़ ऑफ़ इंडिया' के लिए लेख लिखते रहे। अधिकांश लेख पूर्वी और पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से सम्बंधित थे। ये लेख बाद में हिंदी में अनुवादित होकर 'चीड़ों पर चाँदनी' और 'हर बारिश में' शीर्षकों से निबंध-संग्रह के रूप में प्रकाशित भी हुए। 1970 में निर्मल वर्मा भारत वापस लौट गए।

[7] गगन गिल (सं.), *प्रिय राम* (निर्मल वर्मा के पत्र), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, पृ. 17

निर्मल वर्मा लम्बे समय तक विदेश प्रवास पर रहे और इसका असर उनके कथा-साहित्य पर भी दिखता है। उनकी रचनाओं पर यूरोपीय आधुनिकतावादियों के कथा-साहित्य का व्यापक असर दिखाई पड़ता है। अज्ञेय, चेखव, तुर्गनेव आदि की रचनाएँ उन्हें अच्छी लगती थी और वे इनसे प्रभावित भी थे। साथ ही भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों और विचारकों ने भी उनकी ज्ञान सम्पदा को समृद्ध किया था। निर्मल वर्मा के चिंतन, जीवन एवं लेखन पर अनेक भारतीय व पश्चिमी लेखकों का प्रभाव देखा जा सकता है। भारतीय लेखकों में जैनेंद्र और अज्ञेय का उनके ऊपर गहरा प्रभाव है। निर्मल के अनुसार- "हिंदी में जैनेंद्र और अज्ञेय का मुझ पर गहरा असर रहा था। जैनेंद्र के शुरू के उपन्यासों और अज्ञेय के शेखर एक जीवनी का शेखर मैंने स्कूल के दिनों में पढ़ा था।"[8] इनके अलावा चेखव, तॉलस्तॉय, पूस्त, कैथरीन मैंसफील्ड या एक - दूसरे स्तर पर वर्जीनिया वुल्फ़ का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। निर्मल अपने ऊपर पशिचमी लेखकों के प्रभाव को स्वीकारते हुए कहते हैं- "पता नहीं बचपन से लेकर आज तक कितनी बार चेखव की कहानियों को पढ़ते हुए मैं खुद अपने लेखन से कितना अतृप्त और असंतुष्ट हुआ हूँ । जीवन में झूठ छोड़ने का उपदेश सभी देते हैं, लेकिन लिखने में झूठ कैसे छोड़ा जाए, इसकी प्रेरणा केवल चेखव से मिल पाती है।"[9]

---

[8] *सारिका*, जून 1978, (सं.) कनहैयलल नंदन, पृ. 7

[9] *सारिका*, जनवरी 1980, (सं.) कनहैयलल नंदन, पृ. 24

निर्मल वर्मा के ऊपर इस पश्चिमी प्रभाव को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध कथाकर व आलोचक मलयज कहते हैं- "निर्मल वर्मा अपने देश वापस लौट कर भी नहीं लौटे हैं। वे एक अंतराल में हैं। इस अंतराल के एक छोड़ पर है अतीत, अनुभव के मिथ की तरह, दूसरे छोर पर है वर्तमान, अनुभव की वास्तविकता की तरह । अतीत एक जादू है जो स्मृति बनकर उनपर छाया हुआ है , वर्तमान उन्हें अपनी तरफ खींचता है , क्योंकि उसीमें संभावना है । तनाव वे दोनों में महसूस करते हैं । वर्तमान के प्रति ललक है उनमें, पर आधे मन की या शायद आधे से भी कम मन की । वर्तमान का खुलापन उनकी दृष्टि मैं अटकता है , कहीं भीतर बाँधता भी है, पर उससे ज़्यादा नहीं । स्मृति का पलड़ा ज़्यादा भारी है , वे स्मृति के जिये गये सजीव रेशों सै। बुनी अपनी दुनिया के पात्र से पात्रतर रहना चाहते हैं । हक़ीकत यह है कि रचना निर्मल वर्मा के लिए स्मृति में ही है । स्मृति मैं हर बार कुछ-न-कुछ फूट जाता है - समयबोध के जाल से छूटकर जिये क्षणों जैसा और यह कुछ फूटा हुआ ही बार-बार उन्हें रचने को प्रेरित करता है।"[10]

निर्मल वर्मा को 1981 में निराला सृजनपीठ का अध्यक्ष नियुक्त हुए और यहाँ उन्होंने दो वर्ष तक कार्य किया। 1989 में निर्मल वर्मा शिमला में यशपाल सृजनपीठ के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इसी दौरान उन्हें उनकी कृति 'क़व्वे और काला पानी' के लिए प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी सम्मान मिला। और इसके बाद तो सम्मानों का सिलसिला ही शुरू हो

[10] मलयज, *संवाद और एकालाप*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1984, पृ. 15

गया। 1995 में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा 'लोहिया अतिविशिष्ट सम्मान', 1997 में मूर्ति देवी सम्मान, 1999 में हिंदी साहित्य में उनके योगदान के लिए साहित्य का सर्वोच्च सम्मान ज्ञानपीठ सम्मान से भी अलंकृत हुए। हालाँकि ज्ञानपीठ सम्मान उन्हें पंजाबी कथाकार गुरदयाल सिंह के साथ संयुक्त रूप से दिया गया। 2002 में भारत सरकार ने कला और शिक्षा में योगदान के लिए निर्मल को पद्म भूषण से सम्मानित किया। 2005 में इन्हें मैथिलीशरण गुप्त सम्मान से सम्मानित किया। हिंदी साहित्य के लिए समर्पित कलाप्रेमी और अप्रतिम कथा शिल्पी निर्मल वर्मा का निधन 25 अक्टूबर 2005 को दिल्ली में हो गया। अपने निधन के समय निर्मल वर्मा भारत सरकार द्वारा आधिकारिक रूप से नोबल पुरस्कार के लिए नामित थे।

"निर्मल वर्मा ऐसे लेखकों में से हैं जो हमारी आलोचना के सामने एक नयी चुनौती की तरह हैं । उनका साहित्य और चिन्तन उत्तर औपनिवेशिक समाज में कुछ बहुत मौलिक प्रश्न और चिन्ताएँ उठाता है, एक व्यक्ति लेखक की गहरी बौद्धिक और आध्यात्मिक विकलता व्यक्त करता है और भारतीय परम्परा और पश्चिम की चुनौतियाँ के द्वंद्व की नई समझ देता है। एक ऐसे साहित्य-परिवेश में जहाँ तथाकथित सामाजिक यथार्थ का आतंक सा छाया रहता और मुखर क़िस्म की समाजिकता साहित्य को लगभग आत्महीन बनाने पर उतारू है । अगर निर्मल वर्मा, अपनी रचना और चिन्तन मैं पूर्णता और पवित्रता, उनकी खोज और सत्यापन, उनकी उपस्थिति और अनुपस्थिति, उनके अंत: संघर्ष और तनाव को मूलाधार बनाते हैं तो यह ऐसा कुछ है जिसे आसानी से स्वीकार करने को आज

भी आलोचना तैयार या उत्सुक नहीं हो सकती । यह एक रेडिकल चुनौती है ।"[11] निर्मल वर्मा की यही विशेषताएँ उन्हें एक नया मुक़ाम देती हैं साथ ही उन्हें एक विवादास्पद रचनाकार भी बनाती हैं।

परंतु इसमें कोई दो राय नहीं की निर्मल वर्मा साहित्य और समाज के प्रति एक समर्पित रचनाकार हैं और उन्होंने अपना पूरा जीवन इसी में समर्पित भी किया है। वे कहते हैं- "यदि कोई अचानक मुझसे यह पूछ बैठे कि इन वर्षों के दौरान मैने लिखने से क्या पाया है - तो मैरा उत्तर बिल्कुल असंदिग्ध होगा - उसके द्वारा मैंने एक ऋण चुकाया है । इस धरती पर जन्म लेने का कर्ज़, जो कैवल एक दूसरे चमत्कार को जन्म देने से ही चुकाया जा सकता है।"[12]

इस अध्याय में मैंने निर्मल के कथा साहित्य का एक परिचयात्मक विवरण दिया है। सहूलियत के लिए निर्मल की रचनाओं को कहानियों और उपन्यासों में विभाजित कर उन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

निर्मल वर्मा के उपन्यास

***वे दिन* (1964)**

वे दिन निर्मल वर्मा का पहला उपन्यास है जो 1964 में प्रकशित हुआ। आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास प्रेमचंद द्वारा लिखा गया *गोदान*, अज्ञेय की *शेखर एक जीवनी* के बाद हिंदी साहित्य में तीसरा बड़ा पड़ाव माना गया है। जैसा कि उपन्यास के

---

[11] *पूर्वग्रह*, अंक 97, 1990, स. अशोक वाजपेयी, पृ. 30-31

[12] निर्मल वर्मा, *दूसरी दुनिया*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, भूमिका

नाम से आभास होता है यह कुछ बीते हुए अविस्मरणीय दिनों कि कथा है। इस उपन्यास में आधुनिक भाव बोध से उपजी नयी संवेदना और व्यक्ति केंद्रित विषमताओं को, अकेलेपन के अनुभवों को, विस्थापित होने की पीड़ा को बखूबी दिखाया है। दरअसल द्वितीय विश्व युद्ध और उसकी विभीषिका से उपजी मनःस्थिति ने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया, उसकी संवेदना जैसे युद्ध के साथ ही मर गई। प्रत्यक्षतः भारतीय परिवेश में उस मनःस्थिति का चित्रण नहीं दिखा था पर उससे उपजी आधुनिकभावबोध किसी न किसी रूप में यहाँ भी दिख रहे थे।

वे दिन उपन्यास पाँच खण्डों में बंटा हुआ है। उपन्यास का घटनास्थल चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग है। द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में उपन्यास की रचना की गई है इसलिए सभी पात्रों के व्यवहार और चिंतन पर युद्ध की स्मृतियों की छाया मंडराती रहती है। हर पात्र युद्ध के आतंक से आतंकित है। इस आतंक ने उसे वर्तमान में भी सहज नहीं रहने दिया है।यही कारण है कि इस उपन्यास के पात्र स्वतन्त्र है लेकिन अकेले है और किसी की मदद कर पाने में असमर्थ हैं। कथा का आरम्भ अंत से होता है। प्रथम पुरुष में लिखे गए इस उपन्यास में मुख्या पात्र हैं:- इण्डी (मैं) जो भारतीय विद्यार्थी है और हॉस्टल में रहता है। इस उपन्यास में वह एक टूरिस्ट गाइड की भूमिका में है। इण्डी क्रिसमस की छुट्टियों में अपने खालीपन और आर्थिक संकट को दूर करने के लिए गाइड का कार्य करता है। "मैं चुप रहा। सर्दी के उन दिनों में टूरिस्टों के साथ बहार भटकने की सम्भावना मुझे ज़्यादा आकर्षक नहीं जान पड़ी। लेकिन इंकार करने का मुंह नहीं था। उन दिनों स्कॉलरशिप की रक़म बहुत पहले ख़त्म हो जाती थी। हर विद्यार्थी छुट्टियों में कोई-

न-कोई काम ढूँढ लेता था। मैं अब तक टालता आया था। लेकिन मुझे लगा, अब ज़्यादा दिनों तक इस तरह नहीं चल सकेगा।"[13] इण्डी जैसी अवस्था लगभग हर स्कॉलरशिप पाने वाले विदेशी विद्यार्थियों की होती है और सर्दियों में गाइड का काम पाना उनके लिए एक सौभाग्य की तरह है। इण्डी काम पाने के बाद जब आधी रात को अपने होस्टल पंहुचता है और गेटकीपर सेंटपीटर की जेब में जब तीन क्राउन डालता है तब आश्चर्य से वह अंगराई लेना भी भूल जाता है। यह वह समय है जब होस्टल का शायद ही कोई विद्रेशी छात्र बचता है जो कर्जदार ना हो। सेंटपीटर एक गेटकीपर है लेकिन उसकी हैसियत उस होस्टल में उसके पद से ज़्यादा है क्योंकि बारह बजे के बाद होस्टल का गेट बंद हो जाता था और फिर विद्यार्थियों को उसकी मिन्नतें करनी पड़ती थी या उसे रिश्वत देना पड़ता था नहीं तो वह रजिस्टर पर दस्तखत करवाता था ताकि फैकल्टी के प्रिंसिपल से वह शिकायत कर सके। इसके अतिरिक्त आठ बजे के बाद होस्टल का कोई छात्र अपनी प्रेमिका नहीं ला सकता था यह नियम था। इसलिए कई छात्र उससे बचने के लिए उसकी जेब में कुछ क्राउन डाल देते थे ताकि वह बियरखरीद सके। पीटर मान जाये तब किसी भी तरह की मुश्किल नहीं आती थी नहीं तो उसे लगता था कि विदेशी छात्र उसके देश के पैसे पर मौज उड़ाते हैं। और यह बात तो उसे और भी अखरती थी कि कोई भी विदेशी छात्र उसकी मातृभाषा का इंटरप्रेटर कैसे बन सकता है? इसलिए जब वह इण्डी के काम के बारे में जानता है तब इण्डी उससे जानबूझ कर इंटरप्रेटर शब्द का इस्तेमाल नहीं करता और बात बदलते हुए पूछता है कि उसकी कोई चिट्ठी आई है? लेकिन जब उसे पता चलता है कि उसकी बहन का पत्र है तब पत्र को पढ़ने की उसकी उत्सुकता ही ख़त्म हो

---

[13] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 18

जाती है। "सुराख़ के नीचे से पन्ने पर मेरी बहन द्वारा लिखे गए कुछ शब्द बहार झांक रहे थे। मैंने उन्हें पढ़ा और वे मुझे कुछ अजीब-से लगे-- मुकम्मिल वाक्यों में शायद वे मुझे उबा देते, लेकिन इस तरह आस-पास के पड़ोसी शब्दों से अलग होकर सुराख़ से बहार झाँकते हुए वे मुझे काफी निरीह और रहस्यमय-से जान पड़े, जिसके पीछे मेरी बहन थी, घर था, घर के कोने थे...मैंने उसे दुबारा जेब में रख दिया। उस रात मैं वहां नहीं जाना चाहता था।"[14] यहाँ इण्डी एक ऐसे आधुनिक प्रतिनिधि चरित्र की तरह है जिसके लिए एक वक़्त के बाद अपने ही घर जाना मुश्किल हो जाता है। वह कहता है कि उसे प्राग ही अच्छा लगता है, ना उसे घर कि याद आती है और न वह घर के बारे में सोचता है। उसके शब्द हैं- " मैं घर के बारे में नहीं सोचता। मैं सोचता हूँ, एक उम्र के बाद तुम घर वापस नहीं जा सकते। तुम उसी घर में वापस नहीं जा सकते, जैसे जब तुमने उसे छोड़ा था।"[15] इण्डी का रूममेट “रूमानियन था और क्रिसमस कि छुट्टियों में अपने घर चला गया था। उसके जाने के बाद मुझे अपने कमरे में अजीब सी स्वतंत्रता महसूस होती थी। वह बुरा नहीं था, लेकिन उसकी प्रेमिकाओं के कारण मुझे अक्सर अपनी शामें बहार काटनी पड़ती थीं। वह मेरे प्रति क्रूर नहीं था- उसने कई बार मुझसे कहा था कि मैं आँखें मूंदकर अपने पलंग पर लेट सकता हूँ, उसे और उसकी साथिन को कोई आपत्ति नहीं होगी।"[16] इसके

---

[14] *वही*, पृ. 24

[15] *वही*, पृ. 110

[16] *वही*, पृ. 23

बावजूद उसके जाने पर इण्डी अकेलापन महसूस कर रहा था और इसीलिए वह अपने बर्मी दोस्त टी.टी. (थुन थुन) से मिलने जाता है जो उसी होस्टल के चौथी मंजिल पर रहता था। तीसरी मंजिल पर युगोस्लाव मेलनकोविच रहता था जो उस होस्टल का सबसे पुराना निवासी था। उसकी पत्नी और बच्चे बेलीग्रेड में रहते थे लेकिन कुछ राजनीतिक कारणों से वह अपनी पत्नी और बच्चों के पास नहीं जा सकता था। वह अक्सर आधी रात को एकोडियन सुनता था।उसकी आवाज़ से बाकी लड़के समझ जाते थे कि यह मेलनकोविच है।

इस उपन्यास में गौण पात्र के रूप में मौजूद महत्वपूर्ण पात्र हैं- फ्रांज और मारिया। टी.टी. ने इण्डी का परिचय फ्रांज से कराया था। फ्रांज ने उन दोनों को अपने स्टूडियो में बुलाया था जहाँ उसने इण्डी का परिचय मारिया से कराया था। मारिया उसकी प्रेमिका थी। फ्रांज जर्मन था और मारिया चेक थी। भाषाई दिक्कत दोनों के बीच थी लेकिन यह उनके समबन्धों पर हावी नहीं थी। "जब कभी बोलते हुए उसे अंग्रेजी का शब्द नहीं मिलता था, वह उसका जर्मन शब्द मारिया को बता देता था और मारिया हमारे लिए उसका अनुवाद चेक में कर देती थी। मारिया को अंग्रेजी आती थी, पर वह बोलती थी चेक में। फ्रांज को चेक नहीं आती थी। मुझे और टी.टी. को जर्मन। और कभी कभी हम जल्दी में बोलते हुए हड़बड़ा जाते थे कि किसके साथ हमें किस भाषा में बोलना चाहिए। वह सिर्फ पहले ही दिन हुआ था। बाद में हम आदी हो गए थे।"[17] फ्रांज को पूर्वी जर्मन से प्राग के सिनेमा स्कूल में अध्ययन करने का स्कॉलरशिप मिला था। उसने फिल्मों कि कुछ थीम

[17] *वही*, पृ. 57

बनाई थी लेकिन उसके थीम को नकार दिया जाता है कि उसमें युद्ध कि छाया है। उसका बचपन युद्ध में बीता था- " कभी कभी वह हमें लड़ाई के बारे में कुछ घटनाएं सुनाता था, किन्तु कुछ ऐसे तटस्थ भाव से की हमें निश्चय नहीं हो पाता था कि वह लड़ाई के बारे में बता रहा है, जिसमे उसका बचपन गुजरा था, या अपने बचपन के बारे में, जिसमें उनकी लड़ाई गुज़री थी।"[18]

इन कारणों से फ्रांज कई बार बहुत जल्द ही असहज हो जाता था उसे लगता था कि "वे परेशानी और भटकाव के दिन होते। फिर 'वीसा' का चक्कर शुरू होता- फ्रांज उतावला सा हो जाता प्राग से कहीं भी बाहर जाने के लिए- वेस्ट जर्मनी, स्वीडन, पोलैंड- कहीं भी जहाँ सिनेमा स्कूल के अध्यापक इतने जड़-बुद्धि, इतने इडियट नहीं होंगे, जितने प्राग में। यह वह समय होता जब फ्रांज का कोई 'आईडिया' अपनी फिल्म के बारे में कोई 'थीम' स्कूल के डायरेक्टर द्वारा अस्वीकृत हो जाती।"[19]

फ्रांज के विपरीत मारिया शांत चरित्र है। वह फ्रांज के साथ रहना चाहती है वह कुछ कहती है कि- "तुझे नहीं मालूम? उसने मेरी ओर हँसते हुए देखा, यह यहाँ का नियम है...अगर कोई चेक लड़की किसी विदेशी कि पत्नी हो, तब वह उसके साथ बाहर जा सकती है...नहीं तो काफी दिक्कत पड़ती है।"[20] अगर फ्रांज और मारिया एक दूसरे से

---

[18] *वही*, पृ. 61

[19] *वही*, पृ. 57-58

[20] *वही*, पृ. 64

विवाह कर लें तो उन्हें आराम से वीसा मिल जायेगा लेकिन वह मात्र वीसा के लिए फ्रांज से विवाह नहीं करना चाहती। वह जानती है कि फ्रांज ज़्यादा दिनों तक वहां नहीं रहेगा लेकिन वह उससे कुछ कहती नहीं क्योंकि उसे लगता है कि फ्रांज को उसकी जरुरत नहीं है। फिर भी वह अपने दुखों/भावों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देती और इण्डी या टी.टी. असमय सबकी मदद के लिए सदैव तत्पर रहती है।

उपन्यास की दूसरी महत्वपूर्ण पात्र है ऑस्ट्रियन टूरिस्ट रायना रैमान, उसके साथ है उसका पुत्र मीता जिसे लेकर वह प्राग घूमने आयी है। रायना लड़ाई की गवाह रही है। वह कोन्सन्ट्रेशन कैंप में रह चुकी है। वहां वह पहली बार जॉक से मिली थी। तब उन्हें अपने बचने की उम्मीद नहीं थी, लेकिन वे बच जाते हैं और शादी कर लेते हैं। परन्तु विवाह के उपरांत भी इनके रिश्ते सामान्य वैवाहिक जोड़ों की तरह नहीं है। युद्ध की छाया से ये कभी मुक्त नहीं हो पाए। युद्ध के उपरांत भी अशांति और अकेलेपन ने इनका पीछा नहीं छोड़ा। अपनी आस्थाओं से, नैतिक मूल्यों से और मानवीय संबंध से अलग ये एक दूसरे के लिए अजनबी ही रहे। परिणामत: रायना अपने पति से अलग हो जाती है परन्तु भौतिक रूप से अलग होकर भी अपनी स्मृतियों से अपने पति को नहीं निकाल पाती है।

> "'जॉक कौन?' मैंने उसकी ओर देखा।
>
> वह सामने देख रही थी। पल भर एक गहरी सी नीरवता रही। उसकी नियमित सांसों के बाहर कुछ भी नहीं था- सिवाय उन झाड़ियों के जिनकी सरसराहट दूर से सुनाई दे जाती थी।

'वह मेरे पति हैं...' उसने कहा।

'वह आपके साथ प्राग नहीं आये?'

'हम साथ नहीं रहते'। उसका स्वर बहुत धीमा था। कुछ देर बाद उसने कहा, 'हम अलग हो गए हैं। उसे शायद यह भी नहीं मालूम कि मैं मीता के संग प्राग आयी हूँ।'

उसका स्वर सहज और शांत था। उसमें भयावह कुछ भी नहीं था।"[21]

उसका पुत्र मीता अपनी माँ और पिता के बीच बंटा हुआ है, कभी वह अपने पिता के साथ रहता है और कभी अपनी माँ के साथ और बाकी दिन उसके होस्टल में गुजरते हैं। आठ-दस साल कि उम्र में ही परिस्थिति ने उसे वयस्कों सा गाम्भीर्य प्रदान कर दिया है। उम्र से ज़्यादा समझदार बना दिया है। लेकिन उसका निश्छल बचपन उससे छीन लिया है।

लाल टीन की छत (1974)

लाल टीन की छत निर्मल वर्मा का दूसरा उपन्यास है जो 1974 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की कथा-भूमि शिमला और शिमला से कुछ दूर स्थित फॉक्सलैंड है। अतः पर्वतीय वातावरण का समावेश यहाँ सहज ही परिलक्षित है । यह उपन्यास तीन खण्डों में बंटी हुई है- 'एक साँस में', 'शहर से ऊपर' और 'तस्सली से परे'। उपन्यास में अक्टूबर महीने से मार्च महीने तक कि कथा है। प्रथम और तृतीया खंड कि कथा-वास्तु का केंद्र शिमला है जबकि दूसरा खंड फॉक्सलैंड पर केंद्रित है।

---

[21] *वही*, पृ. 77-78

लाल टीन की छत में एक किशोरी काया की कथा जो अपने उम्र के ऐसे पड़ाव पर खड़ी है जहाँ बचपन समाप्त हो रहा है और वह अपने किशोरावस्था से युवावस्था कि ओर बढ़ रही है। एक तरफ बचपन कि स्मृतियाँ हैं साथ ही यौवन का आकर्षण, प्रेम, वेदना, प्रतीक्षा आदि ने उसके भीतर रहस्य पैदा कर दिया है।काया यहाँ सिर्फ अपने उम्र के संक्रमण से नहीं गुजर रही है, रिश्तों के संक्रमण से भी गुजर रही है। वह अपनी परिस्थिति और जिज्ञासु प्रवृति के कारण कई बार भ्रम और आतंक की भी शिकार होती है। वहीँ उसका भोलापन और अकेलापन उसके समक्ष कई सवाल भी खड़ा करता है।

इस उपन्यास में काया का जीवन दो धरों पर केंद्रित है - पहला पिता का घर और दूसरा चाचा का घर। काया अपने छोटे भाई, माँ, नौकर मंगतू के साथ शिमला में लाल टीन के छत वाले मकान में रहती है। उसके पिता दिल्ली में रहते हैं और छुट्टियों में ही घर आ पाते हैं। काया चाहती है कि और बच्चों कि तरह उसके पिता भी उसके साथ रहें। काया कि माँ गर्भवती है और वह हमेशा प्रसूति कक्ष में ही रहती है। बाहर कि दुनिया से उसका ज़्यादा सारोकार नहीं है इसलिए काया को अपने माता-पिता का अपेक्षित प्यार भी नहीं मिलता-फलतः उसमें असुरक्षा का भाव पनपता है। वह अपने आप को अजनबी और अकेली समझती है। वह अपने अकेलेपन से बचने के लिए पहाड़ों, रेलवे लाइन पर काली मंदिर आदि जगह भटकती रहती है । काया के हमउम्र इस उपन्यास में दो और महत्त्वपूर्ण पात्र हैं- एक है काया की बुआ की बेटी 'लामा' और दूसरा है उसके चाचा का बेटा 'बीरू'। तीनों के उम्र में बहुत का फासला नहीं है। लामा के पिता जीवित नहीं हैं और बुआ की आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी नहीं है इसलिए उसकी बुआ अपने भाईओं पर बहुत हद तक

निर्भर है और वर्ष के दो महीनों में एक-एक महीने वह अपने भाईओं के यहाँ ही गुजारती है। लामा काया केर घर रहने आती है लेकिन लामा के बेबाक स्वभाव के कारण काया की माँ को लगता है कि लामा की संगती में कहीं काया भी ना बिगड़ जाय इसलिए वह उसकी शादी करवा देती है। लामा के चरित्र में बहुत सी संभावनाएं थीं लेकिन लेखक ने इसे बहुत विस्तार नहीं दिया है। वह एक तिलिस्म की तरह है। जब भी कभी काया निरुत्तर होती है उसे लामा की ही याद आती है। लामा को लेखक ने भारतीय परिवेश के उस स्त्री पात्र की तरह गढ़ा है जो अपने निम्न आर्थिक स्थिति की वजह से दूसरों के मनमानेपन की शिकार है और इसलिए उसे बिना उसकी मर्जी जाने कहीं भी शादी करने के लिए विवश होना पड़ता है। काया की माँ उससे कहती है कि लामा की शादी हो गई है। वह अब बहुत सुखी है । काया को लगता है कि उसकी माँ झूठ बोल रही है। उसकी माँ के लिए बाहर कि दुनिया भयावह थी इसलिए वह नहीं चाहती थी कि काया लामा के साहचर्य में रहे। "माँ हमेशा लामा से संत्रस्त रहती थी- उन्हें लगता था, इस लड़की का कोई भरोसा नहीं, वह बादल फाड़कर थिगली लगा सकती है। तभी वह बुआ को डराती थीं, अपने डर से डराती थी- कोई भी लड़का मिले, कर दो। बाद में पछताओगी।"[22]

काया का ही हमउम्र है वीरू जो उसके चाचा का बेटा है। वैसे वीरू के चरित्र को कथाकार ने बहुत विस्तार नहीं दिया है लेकिन एक किशोर मन अपनी माँ की मृत्यु और पिता के अवैध सम्बन्ध के कारण कितना अकेलापन महसूस करता है और किस प्रकार गुमसुम रहता है यह वीरू में स्पष्टतः दिखता है। उसके चाचा रिटायर्ड फौजी अफसर है। सबसे अलग एकांत में जीवन बिताने के लिए वे फॉक्सलैंड में कब्रिस्तान के पास घर लेते हैं।

---

[22] निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011, पृ. 36

उनकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी है। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद वे अपने पुत्र वीरू के साथ इसी घर में रहते हैं। ये दोनों भी अकेलेपन से ग्रस्त हैं। वीरू अपने अकलेपन से छुटकारे के लिए मोजे बुनता रहता है। उसके पिता ने नारकंडा से एक पहाड़ी औरत को अपने घर के पास ही क्वाटर में रखा है। वह पहाड़ी औरत अपने बेटे के साथ वहीँ रहती है। वह पहाड़ी लड़का घर के लोगों को खाना पंहुचाता है और चाचा उस औरत से सिर्फ अपनी कामेच्छा पूरी करते हैं। वह नथवाली औरत अपनी गरीबी के कारण यहाँ रहती है और अपने अतीत को याद कर आंसू बहाती है। यही नहीं जब काया उसके संपर्क में आती है, उसके प्रति भी आकर्षण महसूस करती है। काया उस उम्र में है जहाँ विपरीत सेक्स के प्रति उसमें सहज ही आकर्षण है इसलिए वह नौकर मंगतू, भोलू, वीरू जैसे किसी भी वर्ग और उम्र के पुरुष पात्र के प्रति झुकाव महसूस करती है। परन्तु उस पहाड़ी औरत के साथ आकर्षण के पीछे एक रहस्यमय वातावरण भी है। पहाड़ी औरत के नथ, कड़े, कपडे, आदि को आश्चर्य से देखती है। उसका नारकंडा जैसे सुदूर पहाड़ी क्षेत्र से आना, चाचा का रोज उस क्वाटर में जाना, वीरू का उस औरत को घृणा की दृष्टि से देखना और जादूगरनी समझ काया के लिए एक अलग दुनिया की चीज है। "यह क्या था, उनके स्वर में, जो उसे कंपा जाता था? वहां से जाने को मन होता था- और वह बैठी रहती थी, अपने को जकड़कर। भय और मोह- मोह और आतंक- एक साथ उसे पकड़ लेते- और वह औरत पहाड़ों को ताकती, शाम की धूप में नथ को हिलाती, एक कंटीली मुस्कान में होंठ खुले रहते, उस कोठरी में, सर्दी ठंढ से अलग, अकेली, लेकिन अपने अकेलेपन से बिलकुल बेखबर- पहाड़िन,

नथवाली औरत, या सिर्फ एक स्वप्न, जो दिन रात उस मकान, फॉक्सलैंड के ऊपर मंडराता रहता!"[23]

इस उपन्यास में काया और उसके पिता के रिश्ते को बहुत विस्तार नहीं दिया गया है। काया के पिता काम के सिलसिले में ज्यादातर बाहर रहते है। काया चाहती है कि वह उनके साथ रहें जो संभव नहीं है फिर भी वह अपने पिता से अपनी माँ कि अपेक्षा ज़्यादा लगाव महसूस करती है और उनकी हर बात को स्वीकार करती है। जब उसके पिता उससे कहते है कि- "मैं तुमसे कहना भूल गया...इस बार मैं क्रिसमस में आऊंगा... उन्होंने कुछ और कहा था, माँ के बारे में, छोटे के बारे में- लेकिन काया ने उस क्षण कुछ भी नहीं सुना। वह सिर्फ उनके एक वाकया पर लटकी रही थी- जब होश आया तो बाबू जा चुके थे।"[24] यह शब्द उसके लिए बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि यह केवल उसे ही कहा गया था। दरअसल लाल टीन की छत उपन्यास में एक ही परिवार के सदस्यों का अलग-थलग रहना, परिवार में बढ़ता हुआ अकेलापन, उसके आतंक तथा संबंधों में आये खिंचाव को दर्शाया गया है।अतः यहाँ पात्रों के मनःस्थिति को ज़्यादा महत्व दिया गया है। परिणामतः यहाँ कई बार एक बोझिल वातावरण का सृजन हो गया है। इस वातावरण में पलने के कारण काया किसी पर भी सहज विशवास नहीं कर पाती और वह अपने में ही सिमटती चली जाती है। वह वृक्षों, पहाड़ियों, मदिरों, जंगलों में भटकती रहती है। ऐसा लगता है जैसे वह आदमी से ज़्यादा पहाड़ों को अपना समझती है।

---

[23] *वही*, पृ. 171-172

[24] *वही*, पृ. 21

काया के जीवन में अपने परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त मिस जोसुआ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनके अतीत के बारे में लोग ज़्यादा नहीं जानते थे। उनके पति उन्हें छोड़कर अपने देश लौट गए थे। वह काया और छोटे के प्रति ज़्यादा संवेदनशील थी। मिस जोसुआ अपनी मृत्यु का इंतज़ार कर रही थी। काया उनके साथ बहुत वक़्त बिताती थी। काया के लिए मिस जोसुआ का घर सबसे सुरक्षित जगह था। वही मिस जोसुआ जब मर जाती है तब काया को यह विशवास ही नहीं हो पाता। उसे लगता है कि वह तो सो रही है। कल ही रात उन्होंने काया से बहुत सी बातें कि थी। काया मिस जोसुआ मिस जोसुआ कर चींख उठती है, मंगतू उसे हटाता है और वह इन सबसे छुटकारा पाने के लिए रेलवे लाइन और सुरंग के पास चली जाती है, जहाँ गिन्नी कि मौत हुई थी। उसे लगता है कि उसकी आत्मा तड़प रही है, उसे मुक्ति चाहिए। तभी एक भयानक पीड़ा कि लहर उसके देह को तोड़ते हुए निकल जाती है। और वह रजस्वला हो जाती है। "फिर मुझे वह पत्थर दिखाई दिया- और मैं ठहर गई। अचानक मुझे लगा, मैं हलकी हो गई हूँ, सबसे मुक्त और स्वच्छ...मेरा शहर दब गया था, हमेशा के लिए- और मैं उस पर उगी बसंत की घास और कीचड़ में लिथड़ी बर्फ से अपना खून पोंछ रही थी, मैं घास पर लोट रही थी, मैं हो गई थी। मैं ईश्वर के पास पंहुचकर उसके परे निकल गई थी...।"[25]

इस उपन्यास में काया बचपन और यौवन कि देहरी पर खड़ी है। उसकी जटिल और अत्यंत आतंरिक मनोदशाएं देह परिवर्तन के साथ ही बदल रही है। यह परिवर्तन साइकोलॉजिकल भी है और बायोलॉजिकल भी।

---

[25] *वही*, पृ. 231

एक चिथड़ा सुख (1979)

एक चिथड़ा सुख निर्मल वर्मा द्वारा लिखा गया तीसरा उपन्यास है जो 1979 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में कथा को 12 भागों में विभाजित किया गया है। यह उपन्यास दिल्ली की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस उपन्यास का आरंभ मुन्नू की डायरी में लिखे गए कुछ पन्नों से होता है। यह पन्ने मुन्नू ने उन पलों पर लिखा है जब वह अपनी चचेरी बहन बिट्टी के साथ दिल्ली में रहता है। मुन्नू 14-15 साल का लड़का है जो बिट्टी का चचेरा भाई है। वह इलाहाबाद से दिल्ली बिट्टी के कहने पर आया है। मुन्नू अक्सर बीमार रहता है इसलिए बिट्टी अपने चाचा से कहती है कि जब वह स्कूल नहीं जाता तो कुछ दिन उसी के साथ आकर रहे। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं- बिट्टी, मुन्नू, डैरी, डैरी की पागल बहन, नित्ती भाई, इरा, मिसेज पंत आदि। ये सरे लोग अपने भीतर कुछ नया सृजन करने की चाह रखते हैं और सुख की तलाश में भटकते रहते हैं।

वैसे इस उपन्यास में नायक, नायिका जैसा स्पष्ट विभाजन नहीं है परन्तु बिट्टी को इस उपन्यास का केंद्रीय पात्र कह सकते हैं। बिट्टी के इर्द-गिर्द ही सारी कथा घूमती रहती है। बिट्टी मूलतः इलाहाबाद की है, उसके पिता की रेलवे की सरकारी नौकरी है और इधर उधर ट्रांसफर होते रहने के कारण वे अपनी बेटी को नैनीताल के होस्टल में भेज देते हैं। बिट्टी नैनीताल से ही थिएटर से जुड़ी रहती है और दिल्ली आकर वह थिएटर में ही काम करती है। बिट्टी दिल्ली में आकर एक बरसाती में रहती है। बिट्टी एक भावुक किस्म की लड़की है। वह जीवन में कुछ करना चाहती है। वह इलाहाबाद से दिल्ली यही सोच कर

आती है कि वहाँ वह अपने अंदर के स्वत्व को तलाश पायेगी लेकिन उसे लगता है कि वह वहीं है जहाँ दो वर्ष पहले थी। कभी-कभी सबकुछ छोड़ कहीं चली जाना चाहती है ताकि उसे घर से पैसे न लेने पड़े। इसलिए वह अनायास ही एग्रेसिव हो जाती है। मुन्नू बिट्टी को जब ऐसे हालात में देखता है तो वह कुछ कहना चाहता है लेकिन जब वह बिट्टी को सोचते देखता था तब वह डर जाता था। "बिट्टी सोचने लगती- और सोचने का मतलब होता- सचमुच सोचना, जैसे वह अपने भीतर के अँधेरे में बाहर का उजाला ढूँढ रही हो। एक छाया चेहरे पर बैठ जाती। उसने कभी किसी को ऐसे सोचते नहीं देखा था। न माँ को, न बाबू को ! वह सहम-सा जाता और अपना मुँह मोड़ लेता।"[26]

डैरी इस उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है। वह डायरेक्टर है, सभी उसे डैरी बुलाते हैं। वह एक संभ्रांत घर का व्यक्ति है परन्तु, उसकी अस्त-व्यस्त हालत देख कर मुन्नू को लगता है कि वह कोई बेरोजगार किस्म का व्यक्ति है जो थिएटर करता है। बिट्टी मुन्नू से कहती है- "तुम्हें नहीं मालूम, अकबर रोड पर इनके पिता का बँगला है- बहुत बड़ा लॉन है, जहाँ कभी-कभी हम रिहर्सल करते हैं। तब भी उसे कुछ समझ में नहीं आया था। उन दिनों उसके लिए जैसा अकबर रोड- वैसा बाबर रोड- कोई खास अंतर नहीं दिखाई देता था।"[27] डैरी और बिट्टी का सम्बन्ध सिर्फ डायरेक्टर और एक्टर का नहीं है, इन दोनों के बीच प्रेम भी है। परन्तु इस प्रेम का कोई भविष्य नहीं है।

---

[26] निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011, पृ. 14

[27] *वही*, पृ. 22

दरअसल *एक चिथड़ा सुख* नवयुवकों के मानसिक अंतर्द्वंद्वों की कथा है जो अपना घर-बार छोड़ कर एक चीथड़े सुख की तलाश में भटकते रहते हैं। ये सुविधाभोगी लोग हैं, इन्होने आर्थिक आभाव नहीं देखा है। इनका संघर्ष बहरी दुनिया से ज्यादा अपने आप से है। यह संघर्ष पश्चिमी और पूर्वी संस्कृतिओं से भी है क्योंकि न तो वे पूरी तरह भारतीय सांस्कृतिक संस्कारों से अपने को काट पाते हैं और न ही पाश्चात्य संस्कृति को पूर्णतः अपना पाते हैं। इसलिए सभी पात्र अनिश्चय, हताशा, भय और अनिर्णय की स्थिति में रहते है।

इस उपन्यास में सभी मध्यवर्ग और उच्च मध्य वर्ग के पात्र हैं जो दिशाहीन हैं। वे करना तो बहुत कुछ चाहते हैं पर क्या करना है? ये नहीं जानते।

ऐसा लगता है जैसे उपन्यास का हर पात्र 'एक चीथड़े सुख' की तलाश में भटक रहा है। अन्य उपन्यास की तरह इस उपन्यास के पात्र भी प्रेम सम्बन्धी घुटन और अकेली पड़ गयी संवेदना से ग्रस्त हैं। वे उस परिवेश में जिए चले जा रहे हैं जहाँ उनके पास कोई ठोस उद्देश्य नहीं है। ये अपने वर्तमान से अंसतुष्ट हैं और अपने भविष्य का कुछ पता नहीं है। "समग्रतः यह उपन्यास आधुनिकता की सर्वव्यापी धुंध में खोते जा रहे, मनुष्य के बुनियादी सुख और उसकी मौलिक इच्छाओं-आकांक्षाओं के बारे में कुछ जरुरी सवाल उठाता है।"[28]

---

[28] मदन सोनी, "एक चिथड़ा सुख पर कुछ नोट्स", डॉ. प्रेम सिंह (सं.) *निर्मल वर्मा: सृजन और चिंतन*, फ़िफ्थ डायमेंशन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1989, पृ. 62

रात का रिपोर्टर (1989)

रात का रिपोर्टर निर्मल वर्मा का चौथा उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1989 में हुआ। इस उपन्यास की कथा दो भागों में विभक्त है। इसमें रिशी की कथा है जो एक रिपोर्टर है। 37 वर्षीया रिशी कथा नायक भी है कथावाचक भी। मुख्य कथा रिशी, रिशी की पत्नी उमा, उसकी प्रेमिका बिंदु, और रिशी की माँ के आस-पास की है। इस उपन्यास में कुछ अन्य महत्वपूर्ण पात्र भी हैं जैसे- रायसाहब, अनूप भाई, हॉलबाख दयाल साहब, खुफिया पुलिस आदि।

यह उपन्यास मूलतः आपातकाल के समय लेखकों और रचनाओं पर लगी पाबन्दी पर आधारित है। इस उपन्यास में चेकोस्लोवाकिया में सेंसरशिप के कारण लेखन की स्वतंत्रता पर जो सवाल खड़े हुए थे उसकी छाया भी दिख जाती है। इस उपन्यास में आपातकाल की स्थिति के बीच एक रिपोर्टर के भय और उसकी मनःस्थिति को केन्द्रीयता प्रदान की गयी है। कई बार यह कथा किसी अंग्रेजी सस्पेंस थ्रिलर फिल्म की तरह आगे बढ़ती है जहाँ पात्रों की संख्या ज्यादा नहीं है पर पात्रों की मानसिक अवस्था के अनुरूप सारे वातावरण का सृजन किया गया है। टेलीफोन की घंटी, उसे उठाने न उठाने के बीच का द्वन्द, रात का सन्नाटा, घडी की सुइयाँ, लाइब्रेरी का दृश्य, आदि इसी का उदहारण है। रिशी पर आपातकाल का यह प्रभाव उसके रिपोर्टिंग से जुड़े कार्यों की वजह से है। वह एक निर्भीक रिपोर्टर है। वह बस्तर में रह चुका है और देश की तात्कालिक स्थितियों पर रिपोर्ताज प्रस्तुत करता रहा है। उसे इसी बात का हवाला दिया जाता रहा है। राय साहब

रिशी के मेंटोर/गार्डियन की तरह हैं जो रिशी की आर्थिक मदद भी करते रहते हैं और उस पर मंडराते भय के प्रभाव से भी उसे मुक्त करने की कोशिश करते रहते हैं।

रिशी के जीवन में उथल-पुथल तब शुरू होता है जब दयाल उससे मिलने लाइब्रेरी आता है और रिशी से कहता है कि वह कल इसी वक़्त टेलीफोन बूथ से थोड़ा आगे उससे मिलने आएगा और जब वह रिशी से बताता है कि इंटेलिजेंस कि लिस्ट में रिशी का नाम है, इंटेलिजेंस वाले रिशी के अतीत और वर्तमान सभी के बारे में जानते हैं। उसे थोड़ा सचेत रहना चाहिए। वह उसे कभी भी अंदर डाल सकते हैं। रिशी इन शब्दों को सुनकर सकते में आ जाता है और वह कहता है कि आखिर उसने क्या किया है? वे क्यों उसके पीछे लगे हैं? "वे हँसने लगे। अधजली सिगरेट खिड़की के पीछे फ़ेंक दी, रिशी साहब, मैं नहीं... वे आपके पीछे लगे हैं; मैं आपको सिर्फ आगाह करना चाहता था, और कुछ नहीं... वे कौन हैं? मैं समझा नहीं...आप धीरे धीरे सब समझ जायेंगे..."[29] वह व्यक्ति रिशी को यह भी बतलाता है कि उसका नाम उनकी लिस्ट में भी है और वह जब चाहे किसी को भीतर डाल सकते हैं। "वे सिर्फ यह जानना चाहते हैं कि क्या हम इसके काबिल हैं... should they at all bother about us ?"[30]

इसके उपरांत वह अपनी बात ख़त्म करते हुए उसकी पत्नी और माँ के बारे में पूछता है और यह जानने के बाद कि रिशी की पत्नी अस्पताल में है उसे यह कहकर आगाह करता है कि-

---

[29] निर्मल वर्मा, *रात का रिपोर्टर*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2010, पृ. 14

[30] वही, पृ.17

"देखिये, आप उनसे... अपनी माँ से कह दीजिये कि जब आप घर में ना हों तो किसी को भीतर न आने दे... और कोई फ़ोन आए तो यह भी कहने कि जरुरत नहीं की आप कहाँ हैं... एक बात और..."

उनका स्वर बहुत धीमा सा हो गया, "आप फिलहाल उनकी पत्नी से नहीं मिलिए वरना वे उन्हें भी परेशान करेंगे..."

वह चौंक गया "आप उनसे मिले थे?"

"हाँ... एक बार।"

"क्या वे जेल में मिलने देते हैं?"

"जेल में नहीं...," उन्होंने गाड़ी स्टार्ट की और थोड़ा सा उसे पीछे ले आए, "पार्लियामेंट पुलिस स्टेशन पर... वहां पर वे उन्हें पेशी के लिए लेट हैं!"[31]

यहाँ पेशी की बात अनूप भाई के लिए की गयी है जिसे पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया है। दयाल रिशी को अनूप भाई की पत्नी और उसकी बेटी से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध ना रखें नहीं तो उसके लिए मुसीबत होगी यह हिदायत देते हुए अपनी बात ख़त्म कर देता है। यहीं से रिशी के जीवन में भय और आतंक की शुरुआत होती है जो उपन्यास के अंत तक बानी हुई है।

रिशी 37 वर्षीय एक बुद्धिजीवी रिपोर्टर है। पहले वह किसी कॉलेज में अध्यापन का कार्य करता था। वह अपनी नौकरी छोड़कर रिपोर्टर बनता है। राजस्थान, उड़ीसा, बिहार

[31] वही, पृ. 17

जाकर वह रिपोर्ताज तैयार करता है। काम के प्रति ईमानदार है और इसलिए उसे आपातकाल के समय सरकार विरोधी कार्यों में संलग्न दिखने की कोशिश की जाती है और इसी आधार पर उसे इंटेलिजेंस की लिस्ट में उसका नाम होने की सूचना दी जाती है और उसे डराया भी जाता है।

दरअसल, इस उपन्यास में उस स्थिति का वर्णन है जहाँ युगीन दवाब व्यक्ति को असहाय कर देता है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके वश में न रहकर परिस्थितियों के अड़ीं हो जाता है। वह इतना डर जाता है कि असहाय, संत्रस्त और शंकालु बन जाता है। वह अपने आप को हमेशा असुरक्षित महसूस करता है। यह आंतरिक संकट और मनोदशा उसके बाह्य सामाजिक यथार्थ से उपजी है, जिसमे व्यक्ति अपने ही डर से डरा हुआ है।

इस प्रकार रिशी एक दोहरे चरित्र का खंडित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति प्रतीत होता है जो सदैव दुविधा और संशय कि स्थिति में रहता है। आधुनिक मनुष्य की विडम्बनाओं का रिशी प्रतयक्ष उदहारण है लेकिन वह उससे लड़ता नहीं बचता है और इसी सन्दर्भ में परत दर परत उलझता चला जाता है और अनिर्णय की स्थिति में पंहुच जाता है। उसकी उपेक्षा और झूठ के कारण ही उसकी पत्नी उमा की वह स्थिति है। निर्मल जी ने इस उपन्यास में कई ऐसे संकेत दिए हैं जिससे लगता है कि उमा की इस हालत का जिम्मेवार रिशी ही है लेकिन वह इस सच को स्वीकारना नहीं चाहता। उसे लगता है कि वह उमा और बिंदु दोनों को खुश रख सकता है लेकिन वास्तव में वह स्वयं को ठग रहा होता है। बिंदु रिशी से प्यार करती है पर वह भी अपनी स्थिति से सशंकित रहती है। उसे लगता है रिशी के जीवन में उसका वजूद क्या है? ऐसे कई प्रश्न हैं जो इस उपन्यास में उठाये गए हैं। एक तरफ आपातकाल कि राजनीतिक विसंगतियां और दूसरी तरफ रिशी, उमा और

बिंदु के त्रिकोणीय सम्बन्ध जिसे लेखक ने वरीयता दी है। रामाश्रय राय के शब्दों में देखें तो "लेखक का उद्देश्य घटनाओं के घात प्रतिघात और उत्तरोत्तर विकास और घटनाओं की पात्रों के मनोभावों और स्थितियों की विशिष्टता के साथ अंतःक्रिया का चित्रण नहीं। लेखक का उद्देश्य तो एक खास परिस्थिति में रिशी के मनोभावों का विश्लेषण और एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में रिशी द्वारा स्वयं अपने जीवन और अपने निकटतम व्यक्तियों के साथ अपने संबंधों का पुनरावलोकन और मूल्याङ्कन पर प्रकाश डालना है।"[32]

अंतिम अरण्य (2000)

अंतिम अरण्य अपने नाम के साथ ही अपने अंतिम होने की भी सूचना देता है और ऐसा प्रतीत होता है कि निर्मल वर्मा अपने जीवन के कुछ अंतिम वर्षों में अपने सम्पूर्ण जीवन-चिंतन को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। यह उपन्यास मूलतः मृत्यु और आसन्न मृत्यु पर केंद्रित है। इसके अतिरिक्त जीवन, मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्मफल, जन्म-जन्मांतर का संबंध, मृत्यु की भायावहता, मृत्यु की प्रतीक्षा आदि सवालों की टोह लेने की कोशिश करता है। सामान्यतः जीवन की विद्रूप/कटु सच्चाइयों को यह सोच कर कि जब वह हमारे समक्ष उपस्थित होगा देखा जाएगा कह कर बचते हैं या उसे टालने की कोशिश करते हैं। निर्मल वर्मा ऐसे ही शाश्वत प्रश्नों से टकराते हैं।

'अंतिम अरण्य' दरअसल जीवन की यात्रा और उसके पड़ावों को तलाशने की प्रक्रिया में बंधी हुई उपन्यास है। इसलिए मृत्यु सम्बन्धी तथ्यों और उसके बाद भी इसकी उपस्थिति

---

[32] रामाश्रय राय, "रात का रिपोर्टर या रिपोर्टर की रात", अशोक वाजपेयी (सं.), *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रक्शन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 186

जीवित लोगों के जीवन में किस प्रकार है इसकी पड़ताल करती है।इसलिए इस कथा में दर्शन के प्रश्न गूंथे चले आते हैं। यह पूरा उपन्यास मि. मेहरा और उनके परिवार के इर्द-गिर्द बुनी हुई है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ अन्य पात्र जैसे- अन्नाजी, निरंजन बाबू, डॉ. सिंह, मुरलीधर, ननकू चौकीदार, हीरालाल पोस्टमैन, गंगू माली, बंसी आदि मौजूद हैं। मि. मेहरा के समानांतर दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है 'मैं'। मि. मेहरा एक रिटायर्ड अफसर हैं।जीवन भर उन्होंने उच्च पद की गरिमा और सुख में अपना जीवन बिताया है। परन्तु अपने जीवन के उत्तरार्ध में वे शिमला के आस-पास बहादुरगंज नामक एक निर्जन पहाड़ी कसबे में अपनी दूसरी पत्नी (दीवा) और अपनी बेटी तीया (पहली पत्नी से) के साथ रहते हैं। उनकी पहली पत्नी का जिक्र उपन्यास में बहुत ही कम है। लगता है इस पात्र के प्रति लेखक की कोई ज्यादा संवेदना नहीं है। तीया के लिए उसकी माँ की उपस्थिति महत्व रखता है और उसने अपनी यादों में आज भी अपनी माँ को संभाल रखा है। वह बहुत छोटी थी जब उसकी माँ उसे छोड़कर चली गयी।

"मैं तब बहुत छोटी थी जब वह मुझे यहाँ छोड़ गयी थी। कुछ भी बता कर नहीं गयी, वह कहाँ जा रही हैं।

"मेहरा साहब से भी नहीं?"

"वह उनसे बहुत पहले अलग हो गयी थीं... जबसे वह दीवा के साथ रहने लगे थे।"

एक अजीब सी हंसी उनके चेहरे पर चली आयी, आज भी जब मैं गाँव की सरकारी डिस्पेंसरियों में दवाइयाँ बाँटने जाती हूँ, तो सोचती हूँ, वह कहीं दिखाई दे जाये।"[33]

तीया के मन में कहीं न कहीं यह घर कर चुका था कि उसकी माँ उसके पिता की वजह से चली गयी इसलिए वह अपने आप में अलग-थलग रहती है। वह अपने पिता से प्रेम करती है लेकिन साथ ही कुछ है जिसके लिए वह उन्हें कभी माफ़ नहीं करना चाहती। वह सबसे दूर रहना चाहती है। इसलिए दूर सिरसा में प्रैक्टिस करती है।

मि. मेहरा अपनी पहली पत्नी को कम ही याद करते हैं। हालाँकि अपने अंतिम समय में उनमें यह अपराध बोध दिख जाता है कि वे अपनी पहली पत्नी के जाने का, दूसरी पत्नी की बीमारी का और बेटी तीया कि नाराजगी का जिम्मेदार सवयं को मानते हैं। उनकी पहली पत्नी उन्हें और अपनी बेटी को क्यों छोड़ कर गयी है, इसे बहुत ज्यादा स्पष्ट नहीं किया गया है। बस एक बार यह उल्लेख है कि मि. मेहरा दीवा के साथ रहने लगे थे इसलिए वह चली गयी थी। दीवा क्रिस्चियन थी। इस पुरे उपन्यास में मिसेज़ मेहरा या उनकी उनकी दूसरी पत्नी के नाम से ही दीवा का जिक्र है जिससे स्पष्ट है कि मि. मेहरा ने अपनी पहली पत्नी के जाने के बाद दीवा से विवाह कर लिया था। ऐसे भी यहाँ दीवा और तीया के बीच के सबंधों पर कहीं भी सौतेलेपन की छाया नहीं दिखती है। लेखक ने लिखा है- "वह हँसने लगती...चलती जातीं और हँसती जातीं - और तब उनके चेहरे को देखकर मुझे लगता कि वह अपने साथ नीचे से गर्मी ही नहीं, वहीं मिसेज़ मेहरा कि हँसी भी ले

[33] निर्मल वर्मा, *अंतिम अरण्य*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011, पृ. 120

आई हैं और तब मुझे कुछ हैरानी-सी होती कि यद्यपि मिसेज़ मेहरा उनकी सगी माँ नहीं थीं, तिया की हँसी में उन्हीं का खून मिला दिखाई देता था, वहीं भोला, भुल्लकरी का-सा भाव जो बाद के दिनों में विषाद की सूखी पपड़ी में जम गया था...वह अपने और उनके चेहरे को साथ लेकर चलती थीं...जैसे मिसेज़ मेहरा के अंतिम दिनों की दहशत तिया के चेहरे पर पहले से ही मौजूद हो, किन्तु हँसते हुए उन्हें पता भी नहीं चलता था कि कोई दूसरा चेहरा उनके चेहरे पर बैठा है- जिसे सब देखते हैं, सिर्फ वहीं नहीं।"[34]

दीवा इस उपन्यास की सबसे जीवंत पात्र है। हर पात्र की स्मृति कहीं न कहीं दीवा से जुडी हुई थी। उसकी मृत्यु उपन्यास के प्रारम्भ में ही हो जाती है लेकिन वह अतीत और स्मृतियों में हर जगह मौजूद है। उपन्यास में डॉ. सिंह दीवा की मृत्यु के उपरांत कहते हैं-

"क्यों मिसेज़ मेहरा नहीं हैं?"

मैनें उन्हें देखा। वह नशे में तो नहीं बहक रहे!

"नहीं, मैं सिमिट्री कि बात नहीं कर रहा, जहाँ वह दबी हैं...मैं घर कीबात कर रहा हूँ, जहाँ कभी वह रहती थीं...उस घर को छोड़ना आसान है?"

वह खिड़की से बाहर देख रहे थे, सूरज पर कोई बादल अटका था, एक थकी-सी छाँह शहर पर चली आई थीं।

---

[34] वही, पृ. 91

"मैं चलता हूँ..." उन्होंने वेटर को बुलाकर बिल पर दस्तख़त किये, फिर मेरी ओर देखा...

"तुम्हें मेरी बात अजीब लगी?" उन्होंने कहा, "लेकिन ऐसा होता है। आदमी की काया उसे छोड़कर चली जाती है, तो इसका मतलब यह नहीं कि वह अपने घर को छोड़ देता है, जहाँ उसके प्राण बसे हैं।"[35]

इन सारे पात्रों के अतिरिक्त जो इस उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण पात्र है वह है स्वयं मैं। मैं को बुलाया था दीवा ने लेकिन दीवा कि मृत्यु के बाद भी वह मि. मेहरा को छोड़ कर नहीं जाता।निरंजन बाबू और डॉ. सिंह उससे कहते भी हैं कि वह लौट क्यों नहीं जाता? लेकिन मैं का पदार्पण इस उपन्यास में उसके अपने जीवन में आए खालीपन को भरने के लिए भी है। वह अपने स्वत्व के लिए भी लड़ रहा है। उसकी स्वीकारोक्ति है कि- "मैं जीवन के एक ऐसी दौर से गुजर रहा था, जिसे कुछ लोग 'क्राइसिस ऑफ मिडिल एज' कहते हैं। यह मैं अब सोचता हूँ। मैं उससे बाहर निकलना चाहता था।अब हँसी आती है, क्या कोई अपने तन कि त्वचा और मन कि मैल से बाहर आ सकता है? कहीं भी जाओ, ये दोनों चीजें पीछा नहीं छोड़ती। लेकिन एक बात मैं जनता हूँ, यहाँ आने का मतलब एक

[35] वही, पृ. 120

दुनिया के छोड़कर दूसरी दुनिया में जाना नहीं था, यह अपनी ही दुनिया में अपने के दुबारा पाने का प्रयत्न था..."[36]

वह आया तो मिसेज़ मेहरा का बायोग्राफी डिक्टेट करने परन्तु अनजाने ही इन दोनों के बीच पिता-पुत्र सदृश्य एक ऐसे रिश्ते का सृजन होता है जो मेहरा साहब की मृत्यु, उनके अस्थि विसर्जन और कथा वाचन से दिल्ली लौटने के उपरांत ही ख़त्म होता है। मि. मेहरा की मृत्यु से पहले जब अन्ना जी उनसे मिलने आती है तब कथावाचक से कहती है कि- "पहले मैं सोचती थीं, तुम यहाँ आकर अपनी जिंदगी बरबाद कर रहे हो...मुझे नहीं मालूम था, दीवा उनकी जिंदगी तुम्हारे हाथों सौंपकर मरी है।"[37]

वे दिन, रात का रिपोर्टर जैसे उपन्यासों की तरह इस उपन्यास में भी निर्मल वर्मा ने मैं के माध्यम से ही कथा को आगे बढ़ाया है। कथावाचक मैं का आगमन भी मेहरा साहब के जीवन में दीवा के कारण ही होता है। मैं जिस विज्ञापन को देखकर यहाँ पंहुचता है उसकी जानकारी मि. मेहरा को नहीं है। यह विज्ञापन दीवा अपने असाध्य बीमारी को ध्यान में रखते हुए अपने पति के अकेलेपन को दूर करने के लिए देती है। "पहली चीज तो यह थी कि वह विज्ञापन एक महिला ने दिया था, जिसमें किसी पढ़े-लिखे युवक कि माँग की गयी थी, जो उनके रिटायर्ड पति के साथ हर रोज़ कुछ घंटे बिता सके और उनकी छोटी-छोटी जरूरतों को पूरा कर सके... वे 'जरूरतें' क्या होंगी, इसका कोई हवाला विज्ञापन में नहीं

---

[36] वही, पृ. 20

[37] वही, पृ. 170

दिया गया था। इसके एवज में आवेदन कर्त्ता को (उसकी नियुक्ति पर) मुफ्त की बोर्डिंग और लॉजिंग ही दी जा सकेगी...।"[38]

जब कथावाचक मैं मि. मेहरा के घर पंहुचता है और दीवा को देखता है उसे लगता है कि वह मेहरा साहब कि बेटी है। " वह मेहरा साहब की दूसरी पत्नी थीं। उम्र में उनसे बहुत छोटी थीं। जब मैं पहली बार आया था तो मैं समझा था कि वह उनकी बेटी हैं। क्या पता था कि वह पहले से ही एक बेटी की माँ बनकर आयी हैं। जिस दिन मैं आया था, वह बैडमिंटन खेल रही थी। उनके साथ एकदूसरी महिला थी और मेहरा साहब कोर्ट के बाहर बैठे थे, उनके आगे मेज़ लगी थी, जिसपर पानी का जग और शीशे के गिलास रखे थे।"[39]

यहाँ दूसरी महिला अन्ना जी हैं। अन्ना जी का परिचय उपन्यास में इस प्रकार है- "वह जर्मन थी और दूसरी लड़ाई से पहले यहाँ आयीं थीं...उन्होंने अपना बचपन ब्लैक फारेस्ट में बिताया था, जिसके बारे में वह अनेक किस्से कहानियाँ सुनती थी...लेकिन हिंदुस्तान आने के बाद उनकी कहानी पटरी से उतारकर अनेक पहेलियों के बीच एक साथ चलती थी... जिनके बीच किसी तरह का तारतम्य बिठाना असंभव लगता था। कुछ वर्ष फरीदकोट के राजपरिवार कि गवर्नेस भी रही थी...फिर राजस्थान चली गयी थी, जहाँ थार के मरू में उनकी जीवन धारा कई वर्षों तक अगोचर रहकर आखिर हिमालय के इस

[38] वही, पृ. 19

[39] वही, पृ. 21

डेरे पर दिखाई दी, जहाँ वह पिछले कई वर्षों से अकेली रह रहीं थीं..."[40] निर्मल वर्मा कि अधिकांश रचनाओं में कोई न कोई विदेशी पात्र जरूर होता है। यहाँ अन्ना जी का चरित्र लाल टीन की छत की मिस जोसुआ की याद दिलाता है।

अन्ना जी की तरह ही एक और महत्वपूर्ण पात्र है निरंजन बाबू। निरंजन बाबू भी अन्ना जी की तरह ही बहुत सी बातों को अपने में समेटे रखते हैं और वक़्त वे वक़्त जीवन के गूढ़ प्रश्नों को विश्लेषित करते रहते हैं। मैं निरंजन बाबू को यूनिवर्सिटी के दिनों से जानता है। मैं कहता है- "निरंजन बाबू को देखकर मेरा मन उतना ही अस्थिर हो जाता था, जितना वह शांत और निर्लिप्त दिखाई देते थे।"[41] वह साल में छह महीने पहाड़ी कस्बे में रहकर सेब की खेती करते हैं और छह महीने परिवार के साथ राजस्थान में रहते हैं। वे एक फिलॉस्फर भी हैं और राजस्थान में अध्यापन का कार्य भी कर चुके हैं। निरंजन बाबू दार्शनिक अंदाज़ में जीवन के सुख-दुःख सम्बन्धी बातों पर प्रकाश डालते हैं जब मैं से बात करते हुए कहते हैं- "आप किस सुख की बात कर रहे हैं? परिवार का सुख, दुनिया में रहने का सुख... आदमी क्या सारी मार काट इन सुखों के लिए नहीं करता? जिसे आप ज्ञान कहते हैं, वह भी क्या इसी मार काट के भीतर से नहीं आता? जब आता है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है... तब आदमी उसके काबिल नहीं रहता! वह अपने चिमटे से सुख नहीं उसकी राख उठाने आता है..."[42]

---

[40] वही, पृ. 23

[41] वही, पृ. 26

[42] वही, पृ. 62

निर्मल वर्मा की कहानियाँ

परिंदे (1958)

इस कहानी संग्रह में कुल 7 कहानियां हैं- 'डायरी का खेल', 'माया का मर्म', 'तीसरा गवाह', 'अंधेरे में', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'सितंबर की शाम' और 'परिंदे'। डॉक्टर नामवर सिंह निर्मल वर्मा की 'परिंदे' कहानी संग्रह पर लिखा है- "फकत सात कहानियों का संग्रह परिंदे निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है बल्कि जिसे हम नई कहानी कहना चाहते हैं उसकी भी पहली कृति है।"[43]

स्पष्ट है कि निर्मल वर्मा की कहानियां नई कहानी के दौर की कहानी है इसलिए इसके भाव बोध भी नए हैं। निर्मल वर्मा के यहां पात्र का चरित्र महत्वपूर्ण नहीं होता महत्वपूर्ण होती है बाह्य स्थितियां वह वातावरण वह वेदना जो कहानी को नए रुप में प्रस्तुत करती है। 'डायरी का खेल' स्मृति जन्य कहानी है। बिट्टू इस कहानी की नायिका है वह तपेदिक की मरीज है। बब्बू इस कहानी का दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है। बब्बू बरसों बाद डायरी का पन्ना पलट रहा होता है तब उसे डायरी का खेल और बिट्टू की याद आती है। बिट्टू की मां बिट्टू को लेकर परेशान रहती है। उसे लगता है कि बिटटू ब्याह कर अपने घर जाए वही उसका तीरथ होगा। बिट्टू अपनी मां के इस व्यवहार से असहज हो जाती है।बिट्टू के मन में भी दुल्हन बनने की इच्छा थी। वह सोचती है कि लड़कियां जब दुल्हन बनती होगी तब कैसा लगता होगा? उसमें जीवन जीने की भी इच्छा है पर वह कहती है कि-

---

[43] डॉ. नामवर सिंह, *कहानी: नयी कहानी*, लोकभारती, प्रकाशन इलाहाबाद, 2009, पृ. 52

"मरने से पहले बहुत जी भर कर जीना चाहिए, बब्बू" उनके पीले सूखे होंठ कुछ हिले कहां पर फिर जमे से रह गए।

"जैसे हम पहली बार जी रहे हो,जै से हम से पहले कोई जिया ना हो..."[44]

लेकिन अपनी बीमारी की वजह से उसका जीवन वेदना पूर्ण है। मृत्यु को वह अपने जीवन से अलग ही नहीं कर पाती। ट्रेन में भी वह इसलिए जग जाती है कि उसे लगता है कि कहीं अभी मौत आ जाए तो मरने से पहले सोते रहना कितना अजीब होगा और इसी डर से उसे नींद नहीं आती।

वेदना में या अकेलेपन में जीना या यह कहे कि अकेले ही अपने जीवन को एंजॉय करना निर्मल वर्मा की नई कहानियों का मूल स्वर है। परिंदे की लतिका एक ऐसे व्यक्ति की प्रतीक्षा करती है जिसके बारे में उसे पता है कि वह कभी लौटकर नहीं आएगा। वह अपने अकेलेपन के खोल से कभी बाहर निकलना ही नहीं चाहती। लतिका बिट्टू की तरह बीमार नहीं है पर फिर भी वह वेदना में ही जीती है। तीसरा गवाह कहानी के रोहतगी और नीरजा दोनों अकेले रहने के आदी हैं। दोनों एक दूसरे के निकट आते भी हैं और विवाह भी करने के लिए जाते हैं लेकिन अंततः अकेलेपन को ही स्वीकारते हैं और अपने अपने जीवन में लौट जाते हैं। निर्मल वर्मा की कहानियां के बहुत कम पात्र सहज जीवन जीते हैं। 'सितंबर की शाम' ऐसे ही युवक की कहानी है। वह बेकारी की समस्या से जूझ रहा है पर वह किसी की मदद लेने को तैयार नहीं है। उसकी बहन उसी शहर में रहती है, वह चाहती है कि उसका भाई उससे कोई मदद ले पर वह इसके लिए तैयार नहीं होता।

---

[44] निर्मल वर्मा, 'डायरी का खेल', *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 22

इसी तरह 'पिक्चर पोस्टकार्ड' मैं बेरोजगारी के सवाल को परेश, निक्की और सीडी के माध्यम से दिखाया गया है। 'माया का मर्म' कहानी का नायक किसी काम के न होने की वजह से अपने कमरे में घुटता रहता है। एक दिन वह इस घुटन से बचने के लिए बाहर निकलता है वहां उसकी पहचान लता माथुर नाम की एक बच्ची से होती है। उस बच्ची के साथ वह अपनी जिंदगी के मुश्किलों को भूल जाता है। वह बच्ची उससे कहती है- "तुमने अभी नहीं कहा था कि तुम्हें कोई काम नहीं करना पड़ता, हर रोज छुट्टी रहती है? जीजी की कहानी में भी वह लोग काम की फिक्र नहीं करते; उन्हें भी हमेशा हर दिन छुट्टी रहती है।"[45] अपनी बेकारी को छुट्टी का नाम देकर भी वह खुश रहता है।

परंतु इन समस्याओं के बीच विद्यार्थी जीवन की नोकझोंक प्रेम और मिठास भी मौजूद है। निकीकी गर्लफ्रेंड है, जूक बॉक्स पर बजता ट्यून है। परेश की कहानी है। सीडी का मनी ऑर्डर आया है और वह अपनी आंटी के पास मसूरी जा रहा है।यूनिवर्सिटी के गलियारे हैं। परिंदे की लतिका अकेलेपन में रहने को अभिशप्त है हलाकि उसके अकेलेपन के पीछे उसका प्रेम है। गिरीश अब इस दुनिया में नहीं है। डॉक्टर मुक़र्जी लतिका के बारे में कहता भी है कि- "वह तो बच्ची है पागल! मरने वालों के संग खुद थोड़े ही मरा जाता है।"[46]

इसी तरह तीसरा गवाह की नायिका नीरजा विवाह से कुछ क्षण पहले हाई विवाह नहीं करने का निर्णय लेती है और कोर्ट से चली जाती है। नीरजा का इस तरह जाना सिर्फ बाह्य वातावरण का परिणाम नहीं है। यह अंदर और बाहर के द्वन्द के साथ साथ

---

[45] निर्मल वर्मा, "माया का मर्म", *परिंदे,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2012, पृ. 33

[46] निर्मल वर्मा, 'परिंदे', *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 113

तत्कालीन सामाजिक और वैयक्तिक द्वन्द का भी परिणाम है। डॉ नामवर सिंह के अनुसार- "व्यथा की गहनता में निर्मल के पात्र प्रायः खामोश रहते हैं। उनकीखामोशी व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। उनका मौन पियानो के अंदर का मौन है जिसका एक आध 'की' पर कभी-कभी लेखक की उंगली का हल्का सा दबाव पड़ता है। ' पिक्चर पोस्टकार्ड' का परेश खामोश रहता है, 'तीसरा गवाह' के मिस्टर रोहतगी भी भीड़ के बीच काफी खामोश थे, यहां तक कि 'अंधेरे में' का छोटा सा लड़का भी इस रोग से ग्रस्त है,क्योंकि उसकी हम उम्र से एक बच्ची के अलावा, जो कभी-ही-कभी आती है, उससे कोई बात करने वाला भी नहीं है।"[47]

जलती झाड़ी (1965)

निर्मल वर्मा का दूसरा कहानी संग्रह 1965 में प्रकाशित हुआ। इस संग्राम में कुल 10 कहानियां है- 'लवर्स', ' माया दर्पण', ' एक शुरूआत', 'कुत्ते की मौत', ' पहाड़', ' पराए शहर में', ' जलती झाड़ी', 'दहलीज', ' लंदन की एक रात' और ' अंतर'। इनमें से एक शुरूआत, पराए शहर में, जलती झाड़ी, दहलीज, लंदन की एक रात, अंतर आदि अधिकांश कहानियां यूरोपीय पृष्ठभूमि में लिखी गई हैं । निर्मल वर्मा के लेखक़ीय जीवन का बहुत सा भाग यूरोप में बीता था।इसलिए उनकी कहानियों में यूरोप में बिताए जीवन, उनके यात्रा संस्मरण जैसी विधाओं का हस्तक्षेप भी अनायास हो जाता है। ' एक

[47] डॉ. नामवर सिंह, *कहानी: नयी कहानी*, लोकभारती, प्रकाशन इलाहाबाद, 2009, पृ. 60

शुरूआत' कहानी मैं लंदन से प्राग जाते कहानी के नायक के अनुभव का वर्णन है। स्ट्रीमर में उसका परिचय एक यूरोपियन से होता है। हालांकि वह यूरोपियन कथावाचक से बात करने में कोई जिज्ञासा नहीं दिखाता लेकिन पास बैठे हुए मौन के बीच दोनों का आपस में संवाद होता है।यूरोपियन द्वारा इंडिया को स्ट्रेंज लैंड कहे जाने पर मैं को ऐसा महसूस होता है जैसे-

> "क्षणभर के लिए वह शब्द एक शब्द मेरी आत्मा में बिंध सा गया। समुद्र की अबाध, असीम गहनता की मानिंद रहस्यमय शब्द जैसे अचानक भूली भटकी स्मृति सा मेरे पास चला आया है... इस शाम स्ट्रीमर पर। क्या कभी इसे पहचान पाऊंगा? इस जिंदगी में क्या कभी इस शब्द के मेरे लिए कोई मानी नहीं रहे हैं-ऐसी मानो जो बाह्य मन और पूर्वाग्रहों से अलग सिर्फ मेरे लिए हो, जिन्हें मैंने खोजा हो...
>
> इंडिया... उस रोज स्ट्रीमर पर शाम की भीगी, उजली धूप में वह शब्द मेरे लिए कितना अजनबी-सा हो आया था!"[48]

वह यूरोपियन व्यक्ति में से पूछता है कि वह यूरोप अन्य टूरिसटों की तरह ही आर्ट गैलरी, म्यूजियम, पुरानी चर्च आदि देखने आया होगा। और वह कथावाचक से यह भी कहता है कि जिस सेनेटोरियम में वह रहता है उसके सामने यहूदियों का सीनानोग है-टूटा-फूटा आधा जला हुआ जिसे पिछली लड़ाई में नाज़ी सैनिक निशानी के तौर पर पीछे छोड़ गए थे। उसे लगता है कि यह सारी चीजें मृत्यु के संकेत हैं। दरअसल वह यूरोपीय जीवन के

---

[48] निर्मल वर्मा, 'एक शुरुआत', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 53

प्रति उदासीन हो चुका है। उस उदासीनता के पीछे थी द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद का यूरोप जो आज भी युद्धोत्तर छाया से मुक्त नहीं हुआ था। जिसे कोई नहीं देख पा रहा था जो धीरे-धीरे मर रहा था।

मृत्यु का भय, उसकी छाया या मृत्यु बोध की पीड़ा का चित्रण एक कुत्ते की मौत कहानी में भी चित्रित है। दरअसल यहां एक छोटे से कुत्ते के मौत के माध्यम से सिर्फ कुत्ते की मौत नहीं बल्कि उस परिवार में आए अजनबीपन, अलगाव, अकेलेपन के कारण एक तरह से हर पात्र पर मृत्यु की छाया को दिखाया गया है। हर पात्र हताश है, उद्विग्न है, भटकता रहता है। हर एक ही अपनी अजीब सी पीड़ा है। नितिन भाई लूसी के लिए चिंतित हैं- "उन्होंने उसे अपने पास बुलाया था। 'बोरा चुभता है, लूसी! क्यों?' टकटकी लगाए लूसी देखती रही। आँसू? न,सिर्फ अपने की पहचान- एक स्पर्श और गंध के बीच की आद्रता, जो आदमी के अलावा हर प्राणी में होती है और आदमी जिसे नहीं पहचान पाता।"[49]

लूसी मृत्यु के करीब है। उस की पीड़ा देख नितिन, नन्हे भाई, मुन्नी सभी को लगता है कि लूसी अब नहीं बच पाएगी। लूसी के माध्यम से उन्हें निकट आती हुई पीड़ा से भरी मृत्यु का बोध होता है किंतु यह पीड़ा किस मोड़ से शुरू होती है किस छोर पर जाकर खत्म हो जाती है, कोई भी नहीं जान पाता।

किसी भी संबंध में विश्वास नहीं है मिठास नहीं है। मां और बाबू के बीच पति पत्नी का संबंध है पर स्वयं मां का आज भी विश्वास नहीं हो पाता कि जिस अजनबी के संग उन्होंने

---

[49] निर्मल वर्मा, 'कुत्ते की मौत', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 57

पहले घर छोड़ा जो आज उनके बच्चों का पिता है क्या उनका अपना है? एक स्त्री की पीड़ा यहां स्पष्ट छलक जाती है। लूसी के मरने से मुन्नी को दुख है उन्हें लगता है कि यह तो छोटी उम्र का दुख है समय आने पर यह भर जाएगा पर क्या आगे आने वाला दुख। "लोग कहते थे, धीरे धीरे पराए शहर, पराए घर में जी लग जाता है। लगजाता होगा... लेकिन वह तो लंबे अरसे तक गुसलखाने में घंटो छिपी रहा करती थी। 'वे' दरवाजा खटखटाते थे, और वह बेहोश सी पाइप की खुली धार के नीचे लेटी रहती थी....। देह नीली पड़ जाती थी...। तब नितिन पेट में था...। आजबरसों बाद भी जब वे नितिन को देखती है, तोन जाने क्यों पाइप की धार कि झूली झूली देह में सिमट आती है...।"[50]

'अंतर' कहानी हालांकि यूरोपीय पृष्ठभूमि में लिखी गई कहानी है लेकिन एक स्त्री मन की पीड़ा की मुखर अभिव्यक्ति है। नायिका की पीड़ा का कारण उसका गर्भपात है। नायिका के नहीं चाहने पर भी उसका प्रेमी उसे गर्भपात कराने के लिए बाध्य करता है। जब वह अस्पताल में उससे मिलने आता है तब उसके पसंद की खास खाद्य पदार्थ लाता है। उसे लगता है कि नायिका यह सब देख कर खुश हो जाएगी। और उसे आश्वासन देता है कि अब सब ठीक होगा, अब अब निश्चिंत होकर कहीं भी घूम सकते हैं आदि-आदि। लड़की उससे पूछती है कि तुम अब सुखी हो? वह कहता है कि हम पहले भी सुखी थे लेकिन अब तुम ज्यादा सुखी रहोगी। और उन दोनों के लिए यही ठीक था। नायक जब अस्पताल से बाहर आता है तब स्वयं को यूं हल्का महसूस करता है जैसे सारे झंझटों से मुक्ति मिल

[50] वही, पृ. 64

गई।वह आत्म ग्रस्त और पलायनवादी प्रेमी है जो अपनी सेक्स संबंधी इच्छाओं की तुष्टि तो करता है परंतु जिम्मेदारी लेने से घबराता है। कहानी के अंत में नायिका उस नायक के द्वारा लाए गए खाने के सारे सामान को खिड़की से बाहर फेंक देती है। नायिका नायक से कुछ कहती नहीं है लेकिन कहानी में यह दिख जाता है कि गर्भपात के बाद दोनों की मनस्थिति में अंतर आ गया है संबंधों में दूरी आ गई है। गर्भपात किसी नवागत का नहीं हुआ है गर्भपात उनके प्रेम संबंधों का हुआ है।

इस संग्रह की पहली कहानी 'लवर्स' है।यह एक साधारण प्रेम कथा है। इस कहानी के मूल कथा से ज्यादा आसपास का वातावरण संभावनाएं पैदा करता है। जैसेदिसंबर की शाम, हुमायूं का मकबरा, उस के नंगे सांवले पैरों पर घास के भूरे तिनके और बजरी के दाने का चिपकना आदि। इस कहानी का नायक है निंदी और नायिका है 'वह' दोनों लवर्स हैं। दोनों एक साथ घूमते हैं तफरी मारते हैं लेकिन इनका प्रेम उस गहराई का प्रेम नहीं है कि अलग होते ही दोनों एक दूसरे के लिए मर जाएंगे या जीवन भर अकेले गुजारेंगे।निंदी को लगता है कि वह न कह देगी तब क्या होगा? लेकिन उसके ना कहने पर भी उसे ऐसा लगता है कि उसके जीवन में कुछ नहीं बदला। जोबचा रह गया वह पहले भी था वह अब भी है। वह सोचता है कि- "पंद्रह-बीस वर्ष बाद जब मैं दिसंबर की सुबह को याद करूंगा, तो शब्दों के सहारे नहीं। याद करने पर बहुत ही बेकार, निरर्थक चीजें याद आएगी,

आएंगी, जैसे वह क्रिसमस के 2 दिन पहले की सुबह थी... हम ' ऐल्प्स' में बैठे थे और बाहर दिसंबर के पीले पत्ते हवा में झड़ते रहे थे...।"[51]

'मायादर्पण' इस संग्रह की सबसे बेहतरीन कहानी है। 1972 में इस कहानी पर 'मायादर्पण' नाम से ही फिल्म बनी थी। 1973 का सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार इस फिल्म को मिल चुका है। यह एक अलग तरह की कहानी है। ऊपरी तौर पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक भावुक किस्म की प्लेटोनिक प्रेम कहानी है। तरन और इंजीनियर के बीच एक अनकहा रिश्ता है। शाम में उसके बाबू की बैठकी में आने वाले लोगों में इंजीनियर भी है। उसके नहीं आने पर तरन बेचैन हो उठती है। लेकिनइस बेचैनी को लेखक ने कोई और आकार नहीं दिया है।

'पहाड़' एक सुखी दंपत्ति की कहानी है लेकिन इस पूरी कहानी में सुखी होना एक व्यंगय की तरह है। यह दंपति तो सुखी हैं पर बच्चा उपेक्षित है। पति पत्नी एक दूसरे पर इतने आसक्त हैं कि बच्चे के लिए अवकाश ही नहीं।अपने विवाह के शुरुआती दिनों में वह जहाँ घूमने गए थे बच्चे को लेकर जब वे उसी पहाड़ पर जाते हैं तब वे दोनों तो अपनी पुरानी यादों में खो जाते हैं परंतु उन के इर्द-गिर्द जिन सुख स्मृतियों का घेरा था, उसके भीतर उनका बेटा प्रवेश कर नहीं सकता था और वे उससे बाहर नहीं निकल सकते थे।

'पराए शहर में', 'जलती झाड़ी' और 'लंदन की एक रात' तीनों ही यूरोपीय पृष्ठभूमि की कहानी है। पराए शहर में शहरी जीवन की ऊब, परायापन एवं अकेलेपन पर आधारित कहानी है। जलती झाड़ी एक प्रतीकात्मक एवं सांकेतिक कहानी है जिसमें किसे एक

---

[51] निर्मल वर्मा, 'लवर्स', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 19

अजनबी व्यक्ति अपनी अकेलेपन से ऊबकर निरुद्देश्य घूमते हुए एकांत जगह बैठ जाता है जहां एक बूढा मछली पकड़ रहा होता है। बूढ़ा कुछ देर बाद चला जाता है पर वह वहां फिर भी बैठा होता है। यहां तक कि उसके बगल की झाड़ी में एक लड़की किसी व्यक्ति के साथ आती है और प्रेमकीड़ा निमग्न होती है तब भी वहीं बैठा रहता है। झाड़ी से निकलकर जब लड़की उसे इस तरह देखती है जैसे वह उसी के साथ थी और उसके मना करने पर उसे संदेह भरी नजरों से देखती है। वह सोचता है कि सच क्या है? और वहां से भाग खड़ा होता है।

'लंदन की एक रात' इससंग्रह की महत्वपूर्ण कहानी है। इसकहानी में बेरोजगार, रंगभेद, नस्लभेदऔर युद्ध की समाप्ति के बाद भी उसके प्रभाव को उद्घाटित करती है।कहानी में 3 बेरोजगार पात्र हैं तीनों अलग अलग देशों से लंदन आए हैं।यहां उन्हें जीवन के कटु अनुभवों का साक्षात्कार होता है।अलग अलग जगहों से आए बेरोजगार युवकों की भीड़ जमा थी कुछ अंग्रेजी छात्र, कुछ वर्मी, इस इंतजार में खड़े थे चिड़ियाघर के उन मूक, निरीह जंतुओं की भांति जो कुछ भी पाने के लालच से वहां खड़े थे।मैनेजर सबके नाम पुकारता है वही उनकी छटाई हो जाती है। मैनेजर के जाने के बाद सभी निराश होकर गालियां बकते हुए वहां से चले जाते हैं। केवल कथावाचक, जॉर्ज और विली रह जाते हैं और वही तीनों का परिचय एक-दूसरे से होता है। जॉर्ज नीग्रो है, कहता है वह अंग्रेजो को फूटी आंख नहीं सुहाता। विली बताता है की जारिंग हिल में फसाद के समय वह तीन दिनों तक एक श्वेत वेश्या के घर छिपा रहा था और उसी के संग सोता रहा था। वह सोचता है कि वह सफेद चमड़ी से बदला ले रहा था। जॉर्ज विली को बताता है कि

पिछली लड़ाई की वजह से जर्मनी में आदमी कहीं नजर नहीं आता हर तरफ औरतें ही औरतें हैं और वहां लड़कियों को बस इशारा करने की देर है- ओह, आई विश फॉर अनदर वार... इनदर एंड देन अनदर...-ऐसा लगता है जैसे यह तीनों अपनी बेरोजगारी की भूख को भूलकर सेक्स की भूख जागृत कर रहे हैं। और इसी भूलावे में खुश हैं। तीनों एक पब में जाते हैं, विलि कहता है कि वह पहले यहां काम कर चुका है और उनके लिए कुछ पीने की व्यवस्था कर सकता है। परंतु वहां मैनेजर कथावाचक से कहता है कि वह विली को ले जाए नहीं तो उसके लिए मुश्किल होगा। कथावाचक इस बात को नहीं समझ पाता और उसकी पिटाई होती है। किसी तरह इटालियन उसे छुड़ाता है और कहता है कि वह बाहर न जाए सभी उसे विली और जॉर्ज का साथी समझते हैं उसे नहीं छोड़ेंगे। फिर भी वह बाहर जाता है वहां भीड़ उसे मरणासन्न स्थिति तक उसकी पिटाई कर उसे उसी अवस्था में छोड़ देते हैं।उसे जब थोड़ी चेतना आती है तब वह जॉर्ज से पूछता है कि विली कहां चला गया।जॉर्ज कहता है कि उसे नहीं पता वह उन दोनों को बचाने आ रहा था पर उन लोगों ने उसे नहीं छोड़ा। कथानायक को उस पर विश्वास नहीं होता और दोनों अपनी अपनी राह पर चले जाते हैं।

'दहलीज' एक रूमानी प्रेम कहानी है।कहानी का मुख्य केंद्र बिंदु है 'रूनी'। वह किशोरावस्था में है और अपनी बड़ी बहन जेली के प्रेमी शम्मी भाई से प्रेम करती है। उस लगता है कि जेली में ऐसा क्या है? जो उसमें नहीं है। शारीरिक परिवर्तनों के कारण रूनी के मनस्थिति में हुए परिवर्तन को लेखक ने बड़ी ही सूक्ष्मता से अंकित किया है।

पिछली गर्मियों में (1968)

निर्मल वर्मा का तीसरा कहानी संग्रह है *पिछली गर्मियों मे*ं अन्य कहानी संग्रह की अपेक्षा इस संग्रह की कहानियों में अपेक्षाकृत कसाव है। कथ्य और रूप में एक नयापन है। आठ कहानियों के इस संग्रह की पहली कहानी 'धागे' है।धागे यहां प्रतीक रूप में रिश्ते की बात करता है जो धागे की तरह है सीधा है तो मिठास भरा और उलझ जाए तो जटिलतम। यह त्रिकोणीय प्रेम की कहानी है इसलिए यहां कोई खुश नहीं है।

'इतनी बड़ी आकांक्षा' इस कहानी का प्लॉट निर्मल वर्मा की कहानियों का प्लॉट है या यह कहें की नई कहानी के दौर की कई रचनाकारों का यह प्रिय विषय रहा है। कुछ समय पश्चात दांपत्य संबंधों में आए एक अजीब सा रीतापन, खालीपन आ जाता है एक दूसरे के प्रति कोई दिलचस्पी नहीं रहती फिर भी उस संबंध को लोग ढोते चलते हैं। 'पहाड़' कहानी में भी ऊपर से सुखी दंपत्ति के तह तक निर्मल वर्मा नहीं पहुंच पाते बस बार बार एक ही शब्द दुहराते हैं वह दोनों सुखी हैं। 'सुख' क्या है? यह प्रश्न किसी न किसी रूप में हर जगह मौजूद है। कहानी में संकेत दिया है कि प्रेम धीरे धीरे मर जाता है संबंध भी धीरे धीरे मर जाते हैं। स्त्री अपने पति से पूछती है- "मेरे भीतर सब कुछ शांत है...और फिर कुछ हो रहा है...फिर सब कुछ ठहर जाता है...सुनो," वह धीरे से फुसफुसाई, "क्या

प्रेम शुरू से शुरू हो सकता है, जैसे वह बिल्कुल शुरू में हुआ था, जब वह आदत के अंधेरे में नहीं डूबा था। सुनो क्या तुम मेरी मदद कर सकते हो?"[52]

'डेढ़ इंच ऊपर' थोड़ी अलग तरह की कहानी है। एकबूढ़ा व्यक्ति अपने अतीत और अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए हर रोज बियर पीता है।पर उतना ही जिससे वह डेढ़ इंच ऊपर उठ जाए। उसने एक बिल्ली भी पाल रखी है। वहअपनी पत्नी के साथ एक ही घर में रहता है। सात वर्षों की वैवाहिक जिंदगी में उसे अपनी पत्नी पर उस रात संदेह हुआ जब पुलिस उसकी पत्नी को पकड़ कर ले गई।उसे यह सोचकर आश्चर्य लगता है इतने वर्षों से साथ रहने पर भी वह नहीं जान पाया कि उसकी पत्नी एक विदेशी एजेंट थी। वह बिल्ली से औरत की तुलना करता है। वह कहता है- "जिस क्षण आप इंतजार करना छोड़ देते हैं, उस क्षण आप जीना भी छोड़ देते हैं। बिल्लियां काफी देर तक और बहुत सब्र के साथ इंतजार कर सकती हैं। इस लिहाज से भी औरतों की तरह है।"[53] पिछली गर्मियों में पति जानता है कि पत्नी की गिरफ्तारी के बाद अब उसकी बारी है। वह यह भी जानता है कि अब वे उसकी पत्नी को मार देंगे। पत्नी से सुराख नहीं मिलने पर वह उसे भी गिरफ्तार करते हैं और मृत्यु से कम एक आदमी को जितना कष्ट दिया जा सकता है उतना उसे देते हैं। पहले वह सोचता है कि उसकी पत्नी ने उसे अपना विश्वासपात्र बनाना उचित नहीं समझा लेकिन अपनी यातना के दौरान वह इस बात का कृतज्ञ हो उठता है कि अगर उसे

---

[52] निर्मल वर्मा, 'इतनी बड़ी आकांक्षा', *पिछली गर्मियों में*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ.134

[53] निर्मल वर्मा, 'डेढ़ इंच ऊपर', *पिछली गर्मियों में*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ. 41

सच में कोई भेद मालूम होता- उसकी यातना अधिक बढ़ जाती क्योंकि उसके पास कबूल करने का रास्ता खुला होता।

इस संग्रह की एक और कहानी है अमालियाजो प्रेम को अलग स्तर पर प्रस्तुत करती है। यहां प्रेम भावना अनुभूति नहीं केवल दैहिक बोध तक सीमित है। यहां तीन बेरोजगार युवक कथावाचक, अरब और ब्राजीलियन जो किसी तरह गुजारा कर रहे हैं उसकी कहानी है।तीनों एक बेसमेंट में रहते हैं।अमालिया हॉस्टल में रहती है और किसी के साथ भी शारीरिक संबंध स्थापित कर लेती है। उसके दोस्त ज्यादातर विदेशी टूरिस्ट हैं। एक दिन अरब उसे अपने साथ बेसमेंट में लाता है। अमालिया के साथ सोने के लिए अरब अपने दोनों साथियों को कमरे से बाहर भेज देता है। अरब के सो जाने के बाद अमालिया ब्राजीलियन और कथावाचक के साथ बातचीत करती है कॉफी पीती है। अब वह ब्राजीलियन के साथ है और कथा वाचक फिर से ठंड में ठिठुर रहा होता है।

'पिता और प्रेमी' कहानी में कभी पूर्व प्रेमी-प्रेमिका रह चुके जोड़े एक अरसे के बाद अचानक सड़क पर मिलते हैं। लेकिन अब प्रेमिका का विवाह हो चुका है उसका एक बेटा भी है। इस कहानी में विवाहोपरांत स्त्री पुरुष के संबंधों को बड़ी सूक्ष्मता से व्यंजित किया गया है। प्रेमी उस बच्चे के पिता के बारे में प्रेमिका से जानना चाहता है और जब उसे पता चलता है कि बच्चे का पिता उसके जाने पहचाने व्यक्तियों में से कोई नहीं है तब उसे हल्की खुशी होती है। वही जब वह अपने गंतव्य पर जा रहा होता है तब वह और लड़की एक ही ट्राम में बैठते हैं। लड़का लड़की को भीतर बिठा देता है और स्वयं पैरेंबुलेटर को पकड़ कर बाहर खड़ा हो जाता है तभी भीड़ से खड़ी एक अधेड़ स्त्री बच्चे के सिर को सहलाते हुए

कहती है कि बिल्कुल बाप की शक्ल पर गया है आस पास खड़े लोग मुस्कुराने लगते हैं और लड़का ट्राम की खिड़की के बाहर देखने लगता है।

'खोज' कहानी टूटते हुए पारिवारिक संबंधों की कहानी है। पाँच सदस्य परिवार का हर व्यक्ति अपने घर से छुटकारा पाना चाहता है। बड़ी बहन विवाह करके चली जाती है भाई पुतुल यूरोप चला जाता है। वहां से लौटने के बाद उसके साथ क्या होता है? यहलेखक ने स्पष्ट नहीं किया है लेकिन हर समय शराब पीने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। छोटी बहन बिन्नू माता पिता के साथ रहती है। वह अपने भाई से बहुत प्यार करती थी उसे अफसोस है कि वह कुछ भी नहीं कर सकी। दरअसल आज का व्यक्ति पारिवारिक संबंधों से ऊबा हुआ उनसे घृणा करता हुआ कभी भी उन्हें छोड़कर भाग खड़े होने के लिए तैयार है।

इन संग्रह की एक और कहानी है उनके कमरे। यह एक ऐसी कहानी जिसके मूल में है मुक्त जीवन की चाह। इस कहानी के पात्र एक कमरे के लिए तरसते हैं लेकिन उन की लालसा उसी क्षण नष्ट हो जाती है जब वह एक कमरे के भीतर से झांकती स्त्री की कलांत आंखों को देखते हैं। वे अपने को खुशनसीब समझते हैं उन्हें इस बात की तसल्ली होती है उनके पास कोई कमरा नहीं है और वह घरों से बाहर सड़क पर चल रहे हैं।

'पिछली गर्मियों में' इस संग्रह की अंतिम कहानी है। यह कहानी एक ऐसे व्यक्ति की है जो 3 वर्षों के बाद वियना से अपने घर वापस आया है। 3 वर्ष विदेश में रहने के बाद वह घर से बिल्कुल कट गया है। बहन नीता अपने ससुराल चली गई है और छोटा भाई केसी आर्मी में चला गया है। वह अपने ऊब मिटाने के लिए कभी कोन्याकपीता है तो कभी

स्विमिंग पूल में स्विमिंग करता है। पूरा घर एक बोझिल सन्नाटे से घिरा है। वह चाहता है उसके मां पिता उससे बात करें, डांटे। परंतु कोई उसे कुछ नहीं कहता। मां पिता को लगता है कि वह इतना बड़ा हो चुका है कि उसके जीवन में हस्तक्षेप उचित नहीं है। बेटे को लगता है वह अवांछित है।

बीच बहस में (1973)

बीच बहस में निर्मल वर्मा की चार महत्वपूर्ण लंबी कहानियों का संग्रह है। मानवीय संबंधों में आ रही संवेदनहीनता और विडंबनाओं को रेखांकित करती कहानी है 'छुट्टियों के बाद'। कहानी की नायिका मार्था पेरिस में फ्रेंच लड़के से मिलती है जो उसके साथ आर्ट स्कूल में पढ़ता है। दोनों एक दूसरे के साथ अच्छे दिन बिताते हैं। छुट्टियां बिताकर जब सब अपने घर लौट रहे होते हैं तब फ्रेंच लड़का मार्था को विदा कर दुखी और परेशान हो उठता है। मार्था का चेहरा सुन्न पड़ा था और लड़के के चेहरे पर वीरानगी थी। लेकिन रेल के चलने के बाद मार्था सामान्य हो जाती है। स्टेशन से पहले वह अपनी सगाई की अंगूठी पहन लेती है और अपने मंगेतर से उसी तरह लिपट जाती है जैसे कभी वह फ्रेंच युवक के साथ लिपटी थी।

'वीक एंड' कहानी दांपत्य जीवन में आए और विषाद पर केंद्रित कहानी है। नायिका एक विवाहित व्यक्ति से प्रेम करती है। वह पूरा सप्ताह वीकेंड की प्रतीक्षा करती है, जब वह दोनों साथ होंगे। नायिका को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसका प्रेमी विवाहित है। पहले कभी उसने अपने प्रेमी से इस बात का जिक्र किया था कि उसे इस तरह मिलना अच्छा नहीं लगता लेकिन जब नायक सुन्न होकर कहीं और देखने लगता है तब उसे

लगता है कि कहीं वह भी उसे उसी तरह न छोड़ दे जैसे उसकी पत्नी ने उसे खो दिया है और इस डर से वह फिर कभी इस बात को नहीं छेड़ती। उसे बुरा तब लगता है जब उसका प्रेमी अपनी बच्ची को रोता हुआ बोर्डिंग में छोड़कर आ जाता है।वह उस बच्ची का हाल चाल जानने के लिए बोर्डिंग हाउस में फोन करती है और यह पूछने पर कि क्या वह सो गई? उसे जवाब मिलता है "कौन सी बच्ची? यहां डेढ़ सौ बच्चे हैं।" और वह जल्दी से रिसीवर रख देती है।उसे उसका एहसास होता है कि दुख ही एक ऐसी चीज है जो अलग-अलग बांटकर छोटा नहीं होता, बड़ा भी नहीं होता-सिर्फ साफ हो जाता है, चमकीला और साफ।

'दोघर' ऐसे उखड़े हुए व्यक्ति की कहानी है जो एक बार अपने घर से अलग होने के उपरांत न पुराने घर से पूरी तरह कट पाता है और न हीं नए से पूरी तरह जुड़ पाता है।

'बीच बहस में' पिता और पुत्र के बीच ही नहीं मानवीय मूल्यों को भी श्रद्धांजलि देती कहानी है।रामचंद्र गांधी के शब्दों को ले- "जब से विदेशी हुकूमत भारत में आयी, तब से हमारे पिता की मृत्यु हो गई।आधुनिक युग वह है जहां पिता की मृत्यु हो गई है।"[54] कथावाचक का बूढ़ा पिता अस्पताल में भर्ती है। कोई नहीं जानता कौन सी रात उनकी आखिरी रात होगी।कथा नायक और उसके भाई के अस्पताल में रहने की शिफ्ट बंधी है। बीच-बीच में मां आ जाती है। कथावाचक को लगता है कि वह अपने पिता की मृत्यु का उसी तरह प्रतीक्षा कर रहा है जैसे कभी उसके पिता ने उसके आने की की होगी। बूढ़े

---

[54] रामचंद्र गांधी, "कव्वे और काला पानी: एक सहज पाठ", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990 पृ.,147

पिता अस्पताल में घबराते हैं। वह घर जाना चाहते हैं।अस्पताल में उन्हें लगता है सब उनका इंतजार कर रहे हैं।इंतजार का अंत तब होता है जब बेटे से बहस के दौरान ही उनकी मृत्यु हो जाती है।

कव्वे और काला पानी (1983)

कव्वे और काला पानी निर्मल वर्मा का पांचवां कहानी संग्रह है। इस कहानी संग्रह में सात कहानियां शामिल हैं। इस कहानी संग्रह के लिए 1985 में निर्मल वर्मा को साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। इनमे से कुछ कहानियां भारतीय परिवेश से संबंधित है तो कुछ यूरोपीय। इस संग्रह की कहानियों में एक रचनाकार के क्रमिक विकास को देखा जा सकता है। यहां कहानी ज्यादा सुगठित और प्रभावशाली है। मानवीय संवेदनाएं की पेचीदगियां, उदासी और बेचारगी व्यक्ति को गहरे स्तर तक झकझोरती है और भाषा शिल्प के लेखकीय अनुभवों की गूंज मंत्रमुग्ध कर देती है।

इस संग्रह की पहली कहानी है 'धूप का एक टुकड़ा' जो दांपत्य जीवन में आए ठहराव और खालीपन का उद्घाटन करती है। अपने संबंधों की निर्बलता और ठंडेपन से वह इतनी घबरा जाती है कि अपने संबंधों के बदतर होने से पहले ही चली जाती है। कथा नायिका को पता है कि लोग उसके बारे में सोचते हैं कि वह सठिया गई है। लेकिन उसके अपने तर्क हैं किसी रिश्ते में आए ठहराव के बाद उसके साथ घिसटने को उसने अपनी नियति नहीं बनाया। वह अपने अकेलेपन अपने आत्म निर्वासन में संतुष्ट है।निर्मल वर्मा ने स्त्री जीवन को एक नए और भिन्न आयाम से प्रस्तुत किया है।

इस संग्रह की और कहानी है 'एक दिन का मेहमान'। उस कहानी में भी दांपत्य जीवन में आए ठहराव को रेखांकित किया गया है। हालांकि इस कहानी में दोनों के अलगाव के पीछे का कारण 'धूप का एक टुकड़ा' से ज्यादा स्पष्ट है। कहानी की शुरुआत में ऐसा लगता है कि इस टूटे हुए रिश्ते की जवाबदेही सिर्फ स्त्री पर है। जब स्त्री उससे प्रश्न करती है कि- "उस लड़की का क्या हुआ? वह तुम्हारे साथ नहीं रहती?"[55] और उसका यह जवाब कि वह किसी के साथ रहने के काबिल नहीं है वह अपनी मां के साथ अकेला रहता है यह स्पष्ट कर देता है।यहां भी दांपत्य के टूटने के पीछे कोई तीसरा है। दोनों ही कहानियों में इस तीसरे की छवि को स्पेस नहीं दिया गया लेकिन यह तीसरा है जरूर।यह आधुनिक जीवन की विसंगतियां ही है कि व्यक्ति का जीवन यहां सहज है ही नहींकोई तीसरा न भी हो तो दांपत्य का टूटना अपरिहार्य है।लेकिन इस दांपत्य के टूटने में सबसे ज्यादा कोई पिसता है तो वह है इनके बच्चे। इस कहानी की लड़की अपनी मां के प्रति भी स्नेहशील है और अपने पिता से भी बहुत प्रेम करती है। वह समय से पहले परिपक्व हो चुकी है। वह अपने पिता के लाए गिफ्ट को बिना नानूकर के अपनाती है ताकि उसका पिता खुश रहे ।और घर के तनाव को दूर करने के लिए एक दिन के लिए आय अपने पिता के लिए टैक्सी मंगवा कर उसे होटल भिजवा देती है।

'दूसरी दुनिया' इस संग्रह की अलग किस्म की कहानी है। यह एक ऐसे आदमी और बच्ची की कहानी है जो दो भिन्न पृष्ठभूमि से होने के बावजूद अपने अकेलेपन की वजह से साथ आते हैं। आदमी अपनी गरीबी, बेरोजगारी और ठंड से बचने के लिए पार्क में रहता है।

---

[55] निर्मल वर्मा, 'एक दिन का मेहमान', क़व्वे और काला पानी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2009, पृ. 219

अत्यधिक ठंड में भी वह बच्चे पार्क में खेलती रही है। पार्क में उसकी एक अलग दुनिया हैं जिसमे उसकी अपनी जमीन है, पेड़ है, मिस टॉमस है, और फोन है तथा वहां अनधिकार प्रवेश वर्जित है।नायक भी बिल्कुल अकेला है उसकी दुनिया भी उसके बेड सीटर से लाइब्रेरी और पार्क तक सीमित था लेकिन जब ग्रेता नाम की बच्ची उससे मिलती है दोनों में एक अनकहा अपनापन हो जाता है । नायक के लिए ग्रेता उस लाइफ लाइन की तरह है जिसे देखकर वह अपना दुख और अकेलापन भूल जाता है। कुछ दिनों के बाद उस आदमी को काम मिल जाता है और जब वह कुछ दिनों के गैप के बाद पार्क जाता है और ग्रेता को नहीं पा कर परेशान हो जाता है तब उसे उसकी मां से पता चलता है कि ग्रेता अपने पिता के पास चली गई है। ग्रेता को नहीं पा कर उसका कहीं भी जाने की इच्छा खत्म हो जाती है।

'जिंदगी यहां और वहां'कहानी में जीवन और मृत्यु के सूक्ष्म भेद को तलाशने की कोशिश की। 'यहां' यानी जीवित अवस्था में, इस लोक में, 'वहाँ' यानी लोक से परे, जीवन से परे, मृत्यु के रूप में। कथानायक फ़ैटी अपने घर में बरसों से अकेला रहता है । उसके पिता की मृत्यु हो चुकी है। फ़ैटी को लगता है माता-पिता मरने के बाद भी जाते नहीं वह हस्तक्षेप नहीं करते बोलते नहीं लेकिन रहते हैं वह उनके आसपास है। यहां और वहां की जिंदगी में केवल एक अंतर है। यहां पाप है, धोखा है, झूठ है; वहां है केवल निर्दोषपन और पवित्रता। फ़ैटी और इरा एक दूसरे को बहुत चाहते हैं लेकिन वह जितना एक दूसरे को चाहते हैं उतना ही एक दूसरे से छुटकारा पाने के लिए भी तड़पते हैं। जैसे चाहना कोई पाप हो।

'सुबह की सैर' कहानी बुढ़ापा, अकेलेपन और आसन्न मृत्यु से घबराए हुए व्यक्ति की व्यथा है। जिंदगी के प्रति निराशा असंतोष और निरर्थकता के बोध ने कर्नल निहालचंद को इतना आशंकित कर दिया है कि उन्होंने आत्महत्या कर लिया है। निहालचंद यहां प्रतीक की तरह है ऐसे पिता के प्रतीक जिनके बच्चे स्वयं तो विदेश चले जाते हैं और अपने माता पिता को नौकरों के आसरे छोड़ जाते हैं।

इस संग्रह की एक और कहानी है 'आदमी और लड़की'। यह कहानी यौन संबंधों की नैतिकता और देह की विवशता के बीच के द्वंद को प्रकट करता है।

इस संग्रह की सबसे महत्वपूर्ण कहानी है 'कव्वे और काला पानी'। इस कहानी में जीवन के दो विभिन्न पहलू हैं। एक और जिंदगी का अकेलापन है तो दूसरी ओर संबंधों में आए खटास और स्वार्थपरता की वजह से संयास की ओर पलायन है। पिता के मृत्यु के बाद सबसे बड़े भाई ने छोटे भाई को अपने सन्यासी भाई के पास इसलिए भेजा है कि वह जिस मकान को बेचना चाहते हैं उस पर हस्ताक्षर ले ले। कथानायक का भाई 10 वर्ष पहले घर छोड़ चुका है लेकिन घरवालों से मोह कहीं ना कहीं उसके भीतर जीवित है। यह सोचकर वह अपने घर चिट्ठी भेजता है कि अब उसके जीवित या मृत रहने से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। घर वालों को इस बात से तो कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह जीवित है परंतु उनके स्वार्थ लिप्सा ने उन्हें इसके लिए जरूर तैयार करा लिया कि मकान के कागजात पर उसके हक से छुटकारे के लिए हस्ताक्षर करवा लिया जाए। छोटे को लगता है उसका पूरा परिवार भाई बहन सबका प्रेम सब कहीं राख हो गया है, रेत में दब गया है।

सूखा तथा अन्य कहानियां (1995)

सूखा तथा अन्य कहानियां निर्मल वर्मा का अंतिम कहानी संग्रह है। संग्रह में 9 कहानियां हैं- 'अंतराल', 'पहला प्रेम', 'सूखा', 'बावली', 'किसी अलग रोशनी में', 'टर्मिनल', 'बुखार', 'जाले' और 'खाली जगह से'।

'अंतराल' कहानी अपने नाम के अनुरूप ठहराव को संकेतित करती है जो व्यक्ति के अपने जीवन में उपस्थित समय ही है। एक व्यक्ति जो अपनी नौकरी के समय एक जीवंत जिंदगी जी चुका है, रिटायरमेंट के बाद एक घुटन और अंधकार भरी जीवन जीने के लिए विवश है। एक तरफ है उत्कट जिजीविषा, तो दूसरी तरफ मृत्यु बोध और इन दोनों के बीच पनपती निरर्थकता बोध और अकेलेपन की पीड़ा का मार्मिक स्वर है 'अंतराल'।

'सूखा' एक बहुचर्चित कहानी भी है और विवादास्पद भी। एक रिटायर्ड और प्रसिद्ध प्रोफेसर डॉ देव और नई लेक्चरर बनी लड़की शकुन के बीच की यह कहानी प्रभाव भी उत्पन्न करती है और समस्या भी। दो दिनों के सेमिनार के दौरान शकुन और डॉक्टर देव के बीच के संबंध अत्यंत आत्मीय बन पड़े हैं। दरअसल सूखा यहां दोनों के जीवन में है।शकुन नई पीढ़ी की वह प्रतीक की तरह है जो अपनी मां और अपने जीवन में व्यस्त है किसी तीसरे के स्कोप से भयाक्रांत है। आधुनिक जीवनशैली की यह भी एक विडंबना है कि वह अपने कवच को न जल्दी छोड़ना चाहता है ना दूसरे को अपनाना। वही डॉ देव अवकाश के बाद उस अकेलेपन से जूझ रहे हैं जहां उन्हें पता ही नहीं है कि वह किस से

अपना दुख बाँटें।इस कहानी में यही दिखाया गया है कि जरुरी नहीं की हर व्यक्ति अपनी प्रसिद्धि से खुश और संतुष्ट हो।

'पहला प्रेम' 'लवर्स' कहानी की अगली कड़ी प्रतीत होती है। बिंदु अपने पहले प्रेम को छोड़ किसी और आदमी के साथ घूमती है।पहला प्रेमी ईर्ष्यावश उसका पीछा करता है उसका नाम पुकारता है।उसे यह देख कर बहुत दुख होता है कि वह दूसरे आदमी के साथ इतनी सहज कैसे है? वह उस आदमी को मारने के कई तरकीब सोचता है परंतु वह करता कुछ नहीं। चला जाता है यह सोचते हुए की बिंदु अपने नए प्रेमी को छोड़ उसके पास आ सकती है।

'टर्मिनल' कहानी प्रेम संबंधों की एक निश्चित राह और उसके बाद मुक्ति की चाह कोअभिव्यक्त करती है।

'बावली' कहानी बचपन की त्रासदी को अभिव्यक्त करती है। टूटते हुए वैवाहिक संबंध और विवाहेत्तर अनैतिक संबंध बच्चों के बचपन को भी खत्म कर देते हैं। भूख, गरीबी और अकेलेपन की त्रासदी को बीजी, उसके पति तथा तोशी के माध्यम से चित्रित किया गया है।

'बुखार' कहानी एक ऐसे अध्यापक की है जो एक तरफ अपनी प्रगति के लिए दौड़ रहा है और दूसरी तरफ अपने मूलभूत जरूरतों के लिए। इन दोनों के बीच तालमेल बिठाते-बिठाते उसे लगता है कि अब बहुत देर हो चुकी है।

'जाले' कहानी अकेलापन और टूटते हुए पारिवारिक मूल्यों पर केंद्रित कहानी है।व्यक्ति जाले की तरह जीवन की विद्रूपताओं से मुक्त होने की छटपटाहट में और फंसता चला जाता है। बड़े से घर में माता, पिता और फिर पुत्र और पत्नी की मृत्यु के पश्चात बेहद अकेला और उदास हो चुका भाई घर बेचने का निर्णय लेता है।इसी संदर्भ में वह अपनी तीनों बहनों को बुलाता है। बहन जब घर आती है तब वह अतीत की स्मृतियों में खो जाती है। वह याद करती है महराजिन की बातें और उसे लगता है कि वह सच ही कहती थी इस घर में कोई सुखी नहीं रह सकता।

'खाली जगह से' कहानी भी स्मृतियों पर आधारित है। जीवन में स्मृतियों का महत्व अजंता एलोरा जैसी गुफाओं और शोगी बाबा के चेहरे में बुद्ध का चेहरा जैसी समानता के द्वारा दिखाया गया है।

अध्याय दो

हिंदी कथा-साहित्य: परम्परा और अद्यतन विकास

भारतीय सांस्कृतिक साहित्यिक परंपरा में कथा-साहित्य का उल्लेख प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा है। प्राचीन अर्थात इसकी जड़ें वैदिक काल की ऋचाओं में, ऋग्वेद में उर्वशी-पुरुरवा के कथा सूत्रों में, कथा सरित सागर में, उपनिषदों में, पुराणों में, आख्यानों में मौजूद है। वहीँ संस्कृत में पंचतंत्र, हितोपदेश, दशकुमार चरित आदि के रूप में है। बाणभट्ट ने सातवीं सदी में संस्कृत में कादम्बरी लिखी थी। बौद्धों के समय में कहानी के तत्त्व नीति एवं मनोरंजनात्मक रूप में प्राकृत में बृहत् कथा और पालि में अनेक जातक कथाओं के रूप में है। कहानी उपन्यास से पुरानी विधा है। यह कभी वाचिक-मौखिक परंपरा के रूप में तो कभी गीत, लोकगीत या चित्रों के माध्यम से व्यक्त होती रही है । कह सकते हैं कि मनुष्य के जन्म और विकास के साथ-साथ ही कहानी कभी उत्सुकता, कभी कौतुहल, कभी मनोरंजन तो कभी रहस्य के रूप में चलती रही है।

मध्य काल में साहित्य मुख्य रूप से 'पद्य' विधा के रूप में था जो 'प्रबंध ' और 'मुक्तक' में बंटा था। 'महाकाव्य' की लोकप्रियता शिखर पर थी वहीं दरबारी वातावरण के कारण मुक्तक का अपना स्थान था। इसके साथ फारसी में भी साहस, वीरता और चतुराई के किस्सों की लंबी परंपरा थी, जिसे दास्तान कहा जाता था जिसका प्रभाव बाद के गद्य साहित्य पर पड़ा।

औपनिवेशिक भारतीय ऐतिहासिक परिदृश्य में जिसे आधुनिक काल की संज्ञा दी जाती है वह अपने स्वरूप में कई सारे परिवर्तनों को लेकर आया। अंग्रेजों द्वारा थोपी गई पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और औद्योगीकरण ने जहां सामंत वर्ग और निम्न वर्ग के अलावा 'मध्य वर्ग' को जन्म दिया वहीं हीनताग्रस्त भारतीयों को अपनी संस्कृति के जड़ों को तलाशने के लिए भी प्रेरित किया। भारतीय संस्कृति और पश्चिमी संस्कृति की टकराहट से उत्पन्न इस नवजागरणपरक चेतना ने सामाजिक–धार्मिक सुधार आंदोलनों की एक श्रृंखला निर्मित की साथ ही साहित्य में भी नई विधा की तलाश का निमंत्रण दिया जिसके मूल में निहित थी तत्कालीन समस्याओं से लड़ने की विकलता।

कथा-साहित्य समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया से उपजने वाली विधा है लेकिन यह महज सामाजिक दस्तावेज नहीं है। इसमें व्यक्ति और समाज के द्वंद्व के साथ-साथ लेखक की कल्पनशीलता उसके अनुभव, तत्कालीन परिवेश, उसकी विचारधाराएं, उसकी रचनाधर्मिता सभी तत्वों का समावेश है। शुरुआती रचनाओं में जहाँ समाज केंद्र में है वहीं बाद के कालों में व्यक्ति और उसके बाद व्यक्ति भी अपने मानसिक द्वंद्वों और भावबोधों से लड़ता नजर आता है। जहाँ मध्यकालीन चिंतन में आस्था का स्वर प्रबल था वहीं आधुनिक चिंतन 'तर्क' और बौद्धिकता पर कद्रित हो गया। हालांकि ऐसा नहीं है कि मध्यकाल में तर्क का अभाव था, कबीर की रचनाओं में तर्क और आक्रामकता सबसे ज्यादा है पर वह पदों के रूप में है इसलिए जीवन के आधुनिक संदर्भों में जिस विश्लेषण की जरूरत है वह ठहराव वहाँ नहीं है। इसके अलावा मध्ययुग में चिंतन के केंद्र में धर्म और ईश्वर हुआ करता था पर अब चिंतन के केद्र में है 'मानव'। आधुनिकता, संस्कार,

विचार, सामाजिकता और वैयक्तिकता की इस टकराहट ने मनुष्य के भीतर जिस द्वंद्ध को जन्म दिया उससे अब उसका जीवन सरल नहीं रह गया वरन् जटिल हो गया। इस जटिल जीवन को अभिव्यक्ति देने के लिए ठहराव और विस्तार की जरूरत पड़ी जबकि 'पद्य' में एक प्रवाह होता है जो संक्षिप्तता के आग्रह से लैस होता है। ये सभी वे कारण हैं जिसने 'कथा-साहित्य के उद्भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और आधुनिक युग में कहानी एवं उपन्यास की लोकप्रियता बढ़ती चली गई।

कहानी

कहानी हिंदी गद्य की सबसे सशक्त विधा है। हिंदी साहित्य में 'कहानी' आज जिस रूप में प्रतिष्ठत है वह एक साथ पारम्परिक और पाश्चात्य प्रभाव की देन है। आधुनिक काल में औपनिवेशिक शासन के कारण भारतीय राजनीतिक ढाँचा हो या सामाजिक–सांस्कृतिक स्थितियाँ, सभी पर पाश्चात्य प्रभाव को देखा जा सकता है। इस प्रभाव और संघर्ष ने वह वैचारिकता निर्मित की जिसने गद्य की विधाएँ जैसे नाटक, निबंध, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज आदि को प्रतिष्ठित किया। इन विधाओं में कथा-साहित्य के रूप में कहानी, उपन्यास अग्रणी हैं। ये दोनों गद्य की ऐसी विधाएँ हैं जिसने मध्य-वर्ग के रूप में एक पाठक-वर्ग को भी उत्पन्न किया और हिंदी भाषा को भाषा के रूप में पहचान दिलाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

'कहानी' वस्तुत: एक रचनाधर्मिता है जो अपनी रचनाशीलता के जरिए तात्कालिकता और भविष्योन्मुखता दोनों का बोध कराती है। 'कहानी' कथा-मनोरंजन का कार्य भी

करती है और इसके साथ-साथ दूषित अंत: करण का विरेचन, जीवनसत्य का उद्घाटन और उससे जुड़ी आंतरिक और बाह्य पहलुओं पर विचार करने के लिए भी विवश करती है, जिसके तार कहीं न कहीं मानवीय संवेदनाओं से जुड़े होते हैं।

हिंदी कहानी के विकास को मोटे तौर पर हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं: पहला, 'प्रेमचंद पूर्व युग', दूसरा 'प्रेमचंद क़ालीन युग' एवं तीसरा 'प्रेमचंदोत्तर युग'। हालाँकि स्वातंत्रोत्तर कहानियों में कई धाराएँ हैं परंतु सुविधा के अनुसार उन सभी को 'प्रेमचंदोत्तर युग' में ही समाहित कर लिया गया है।

विकास युग/प्रेमचंद पूर्व युग

भारतीय साहित्यिक भाषिक परम्परा में खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियों का प्रयोग सामान्यतः विक्रम की चौदहवीं सदी में अमीर खुसरो द्वारा किया गया था। खड़ी बोली गद्य के विकास को आधुनिकता और अंग्रेज़ों के आगमन से ही जोड़ कर देखा जाता है। हालाँकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने इतिहास ग्रन्थ में गद्य शैलियों के अनेक उदहारण देकर यह सिद्ध करते हैं कि हिंदी गद्य का अस्तित्व १३४३ ई॰ से रहा है। लेकिन यह गद्य अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। व्यवस्थित रूप से गद्य की शुरुआत आचार्य शुक्ल ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी की लिखी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से मानते हैं'। जिसका रचना काल उन्होंने विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है। खड़ी बोली में गद्य की रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी से पहले ही मिलने लगी थी। गंग कवि के 'चंद-छंद बरनन की महिमा', राम प्रसाद निरंजनी के 'योग वशिष्ठ', दौलत राम के पद्म-पुराण वचनिका' आदि इसके

उदहारण हैं। इसके अतिरिक्त दक्खिनी हिंदी में गद्य के नमूने चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में ही दिखने लगे थे। इसका उदहारण गेसूदराज का 'मिराजुल आशकीन' और वजही का 'सबरस' है। खड़ी बोली गद्य के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज की भी भूमिका रही है। “लल्लू जी लाल के 'प्रेम सागर की भाषा कथा वार्ता के अनुरूप है। इसके शब्द रुप अनिश्चित, भाषा ब्रजी-रंजीत, शैली पंडिताऊ है। सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान पर ब्रजी और भोजपुरी का प्रभाव है। किन्तु सीधे संस्कृत से अनुदित होने के कारण हिंदी की प्रकृति के अनुरूप है।"[1] लल्लू जी लाल और सदल मिश्र ये दोनों फोर्ट विलियम कॉलेज से जुड़े थे। सदासुखलाल और इंशा अल्लाह खां इस कॉलेज से बहार रहकर भी खड़ी बोली गद्य के प्रचार-प्रसार में संलग्न थे। इन्होने ज्ञानोपदेश वाली पुस्तक और इंशा अल्लाह खां (1756-1817) ने 'उदयभान-चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' लिख कर हिंदी गद्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कुल मिलाकर डॉ. बच्चन सिंह के अनुसार सदासुख राय, इंशा अल्लाह खां, सदल मिश्र और लल्लू जी लाल इन चार गद्य लेखकों को आरंभिक हिंदी को आकर देने का श्रेय दिया जाना चाहिए।

राजनीतिक रूप से यह एक संक्रमणकालीन दौर था, जहाँ एक तरफ मुग़ल सत्ता का पतन हो रहा था वहीँ दूसरी ओर अंग्रेजी सत्ता का प्रशासनिक हस्तक्षेप अत्यधिक बढ़ गया था। साहित्यिक रूप से रीतिकाल की समाप्ति और भाषाई संक्रमण के इस दौर में हिंदी-उर्दू विवाद भी शुरू हुआ। हालाँकि इस विवाद में उलझना यहाँ हमारा विषय नहीं है परन्तु

[1] डॉ. बच्चन सिंह, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 287

गद्य के विकास में इन विवादों का परोक्षतः प्रभाव जरूर रहा है। मुग़लों के पतन के बाद अंग्रेज़ों ने अदालती भाषा के रूप में प्रयुक्त फ़ारसी भाषा के एक विकल्प के रूप में भी हिंदी-उर्दू की तरफ देखना शुरू किया। इसने प्रकारांतर में एक विवाद का रूप ले लिया जिसे उस समय के कुछ विचारकों ने अपने निजी हित के लिए सांप्रदायिक रंग देने का कार्य भी किया। इसके अलावे ईसाईधर्म-प्रचारकों ने ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में हिंदी गद्य का लाभ उठाया। अंग्रेज़ों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के क्रम में देश के विभिन्न स्थानों पर स्कूल और कॉलेज खोले गए जिनमे अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी और उर्दू की पढाई की व्यवस्था की गयी। चूँकि अंग्रेज़ों ने बंगाल के राजकाज का अपना केंद्र बनाया था इसलिए बंगाल में हो रहे समाज सुधर आन्दोलनों का प्रभाव भी साहित्य पर पड़ा। राजा राममोहन राय द्वारा 'ब्रह्मो समाज' (1828) की स्थापना, महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज (1867) का जन्म, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज (1875) की नींव आदि ने भी हिंदी कथा-साहित्य के विकास के एक नया आयाम दिया।

इस प्रकार यह वह दौर था जो भारतेन्दु युग या पुनर्जागरण की पीढ़ी को तैयार कर रहा था जहाँ वास्तविक रूप से गद्य की लगभग सभी विधाओं के प्रभाव-प्रसारको एक व्यापक आधार मिला। भारतेन्दु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर गहरे रूप से पड़ा। भारतेन्दु युग में नवजागरण भारतीय संस्कृति और अंग्रेजी संस्कृति की टकराहट से पैदा हुआ। इस युग की आधुनिकता नवजागरण की उपज थी। अतःयहाँ वर्तमान के सापेक्ष अतीत के पुनर्मूल्यांकन का भाव केंद्र में था इसलिए भारतेन्दु ने ब्रह्मो समाज और प्रार्थना समाज आदि की तरह 'तदीय समाज' की स्थापना की थी और अपने अलप जीवनकाल में

ही लेखकों का एक मंडल तैयार किया था। जिसके सदस्य मुख्य रूप से प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, पंडित बल कृष्ण भट्ट आदि थे। इन्होंने भारतेन्दु के साथ मिलकर भी और वैयक्तिक स्तर पर हिंदी साहित्य की भरपूर सेवा भी की और इसे आगे भी बढ़ाया।

आधुनिक गद्य में भारतेन्दु ने मुख्य रूप से नाटक, निबंध और पत्र-पत्रिका सम्पादित किया। इन्होंने नाटक लिखा भी और उसे अनुदित भी किया। "इन्होंने संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी के नाटकों का मौलिक अनुवाद किया है और मौलिक नाटकों की सृष्टि भी। विद्यासुंदर, रत्नावली, मुद्राराक्षस, सत्य हरीशचंद्र, कर्पूर मंजरी, दुर्लभ बंधु आदि अनुदित नाटक हैं और चन्द्रावली, प्रेमजोगिनी, भारत-दुर्दशा, भारत-जननी, नील देवी, अंधेर नगरी आदि मौलिक।"[2]

भारतेन्दु ने कई ऐतिहासिक, आख्यानात्मक, साहित्यिक, यात्रात्मक, विचारात्मक निबंध लिखे जिसमे विभिन्न सामाजिक मुद्दों के उठाया गया है। वहीँ पत्र-पत्रिकाओं में स्वयं भारतेन्दु के 'कवि वचन सुधा', 'हरीशचंद्र मैगज़ीन', बाल कृष्ण भट्ट के 'हिंदी प्रदीप', प्रताप नारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' बदरी नारायण चौधरी के 'आनंद कादम्बिनी' आदि महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से इस काल में नाटक, निबंध, उपन्यास, कविता, आलोचना, पुस्तक-समीक्षा आदि की शुरुआत हुई। कह सकते हैं कि कथा-साहित्य में इस काल में उपन्यास के तत्व तो मिलते हैं लेकिन कहानी के तत्व प्रत्यक्षतः नहीं गौण रूप में

[2] वही, पृ. 299

विद्यमान हैं। हालाँकि इंशा अल्लाह खां की 'रानी केतकी की कहानी' इस समय तक प्रकाशित हो चुकी थी। इसे हिंदी की प्रथम कहानी कही जाती रही है।

दरअसल हिंदी कहानी का वास्तविक आरम्भ 'सरस्वती' (1900) के प्रकाशन से माना जा सकता है। इसमें प्रकाशित पंडित किशोरी लाल गोस्वामी द्वारा रचित 'इंदुमती' को प्रथम मौलिक कहानी के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसके उपरांत कहानियों की अनवरत लेखन की परंपरा की शुरुआत हो गयी। इस शृंखला में "माधव राव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901), भगवान दास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902), पंडित गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी', आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903), लाला पारवती नंदन की 'बिजली' (1904), 'मेरी चंपा' (1905) और बंग महिला की दुलाईवाली' (1907) आदि कहानियाँ इस काल की महत्वपूर्ण कहानी है।"[3] इन कहनियों में दुलाईवली में जहाँ बंगाल विभाजन की पृष्ठभूमि और स्वदेशी आंदोलन की गूँज मौजूद है वहीं माधव राव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिंदी कहानी में यथार्थवादी साहित्य की परंपरा के प्रारम्भ के रूप में देख सकते हैं । 'सरस्वती' के सामानांतर 1909 में काशी से अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इंदु' पत्रिका का संपादन शुरू किया था। जयशंकर प्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' (1911) इसी पत्रिका में छपी थी। 1915 में ही 'सरस्वती' में प्रकाशित चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' है। 'उसने कहा था' प्रथम

[3] मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 12

विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी कहानी है। "सिखों के जीवन की शौर्य भरी कहानी में आरम्भ से अंत तक करुणा की धरा अंतर्व्याप्त है। और करुणा तथा दुखांत के साथ है उदात्तता का भाव जो लहना सिंह के आत्म त्याग में से बड़े कोमल रूप में प्रस्फुटित होता है।"[4] अधिकांश आलोचकों ने इस कहानी को अद्‌भुत और चमत्कृत कर देने वाली घटना कहा है। यह अकेली ऐसी कहानी है जिसकी ख्याति का समांनातर उदहारण अन्यत्र नहीं मिलता। मधुरेश के अनुसार "'उसने कहा था' वस्तुतः हिंदी की पहली कहानी है जो शिल्प विधान की दृष्टि से हिंदी कहानी को एक झटके में ही प्रौढ़ बना देती है।"[5] गुलेरी जी संस्कृत और अपभ्रंश के विद्वान थे। वे मूलतः निबंधकार हैं लेकिन उन्होंने कुछ अन्य कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमे 'बुद्‌धू का कांटा' और 'सुखमय जीवन' उल्लेखनीय है।

कहानियों की शुरुआत की दृष्टि से यह वह स्वर्णिम युग था जिसने आधुनिक कहानी की आगे आने वाली परिपाटी की एक पूरी भूमिका निर्मित कर दी। यह वहीं समय है जब जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद की कहानियां प्रकाशित होनी शुरू हो गयी थीं।

प्रसाद की कहानियाँ

जयशंकर प्रसाद की कहानियों को लेकर आलोचकों के मतों में भिन्नता है। प्रसाद की कहानियों में ऐतिहासिक तत्व भी है, अतीत का पुनर्मूल्यांकन भी तो स्वाधीनता आंदोलन के लिए भारतीय अस्मिता को पहचानने का कार्य भी। सामाजिक और सांस्कृतिक जवलंत मुद्दे भी और भारतीय किसान की पीड़ा भी। प्रसाद की कहानियों का पहला संग्रह 'छाया'

---

[4] राम स्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ. 145

[5] मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 18

है जो 1912 में प्रकाशित हुआ। वहीँ उनकी कहानियों का दूसरा संग्रह 'प्रतिध्वनि' 1926 में प्रकाशित हुआ। उनकी प्रतिनिधि और प्रौढ़ कहानियों के संग्रह के रूप में 'आंधी' (1929) और 'आकाशदीप' (1931) में आया। जबकि उनकी कहानियों का अंतिम संग्रह 'इंद्रजाल' 1936 में प्रकाशित हुआ। 'छाया' की अधिकतर कहानियां ऐतिहासिक है। 'तानसेन', 'रसिया', 'बालम', अशोक', 'गुलाम', 'जहाँ आरा' आदि ऐसी कहानियां हैं जिसका परिवेश पात्र, घटनाएं आदि इतिहास प्रभावित हैं। इसके अलावे प्रसाद की कुछ और महत्वपूर्ण कहानी है- 'पुरस्कार', 'ममता', 'गुंडा', 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'घीसू', 'नूरी', 'मधुआ' आदि ये सभी अलग-अलग निष्कर्षों की कहानी है। प्रसाद की इन कहानियों में या तो प्रेम का उदात्त रूप या सर्वस्व बलिदान में निहित साहस और शौर्य के साथ-साथ त्याग का रेखांकन है या किसान जीवन की पीड़ा कथा के केंद्र में है। 'पुरस्कार' में द्वन्द प्रेम और देश के बीच है। 'गुंडा' कहानी अपने प्रेम और शौर्य के संयोग के कारण एक रोमांटिक कहानी है। 'आकाशदीप' में प्रेम और घृणा के बीच द्वन्द है। 'नूरी' और मधुआ' जैसी कहानियां अलग शैली की सामाजिक कहानियां हैं। "प्रसाद हिंदी कहानी में 'फैंटेसी' की शुरुआत करने वाले पहले कहानीकार हैं। 'समुद्र-संतरण' उनकी 'स्वर्ग के खंडहर में', 'सुनहरा साँप' और कई अन्य कहानियों में से एक है। ... किन्तु कहानी की अवास्तविक-सी प्रतीत होती स्वप्न-शैली में जो 'संकेत' हैं वे एक गहरी वास्तविकता से जुड़े हुए हैं- और वह है प्रसाद की वैभव और ऐश्वर्य के प्रति बद्धमूल विरक्ति। 'समुद्र-

संतरण' प्रसाद की प्रगीत फैंटेसी है।"[6] इस प्रकार प्रसाद की कहानियों में विषयों की विविधता है साथ ही साथ नए प्रयोग भी।

प्रेमचंद युग:

प्रेमचंद एक महान उपन्यासकार के साथ-साथ एक महान कहानीकार भी हैं। कहानी लेखन के क्षेत्र में उनका योगदान अमूल्य है। उर्दू में प्रेमचंद की कहानियाँ १९०७-०८ से ही छपने लगी थीं। "अपने आत्मकथात्मक लेख में प्रेमचंद ने आगे चलकर लिखा था मेरी पहली कहानी का नाम था 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न'।वह १९०७ में 'ज़माना' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पांच कहानियाँ और लिखी।"[7] उनकी शुरुआत की कुछ उर्दू कहानियाँ देश-प्रेम के भाव के कारण अंग्रेजी सरकार द्वारा जब्त कर ली गयी थीं। बाद में उन्होंने अपना मूल नाम धनपत राय की जगह प्रेमचंद नाम से लिखना शुरू किया और हिंदी की पत्रिकाओं में उनकी उर्दू कहानियों के अनुवाद छपने लगा। इन्हें ये स्वयं सम्पादित करते थे या अनुवाद करवाकर भी प्रकाशित करते थे। उर्दू कहानी लेखन में प्रेमचंद प्रसिद्द हो चुके थे परन्तु हिंदी में अभी उन्हें उस तरह की ख्याति नहीं मिली थीं। "आखिर प्रेमचंद ने अपने खर्च पर २५ कहानियों के संग्रह को ज़माना प्रेस को छापने के लिए कहा। यह दो खंडो में प्रकाशित हुआ। १२ कहानियाँ १९१५ में प्रथम खंड में प्रकाशित हुई। १३ कहानियाँ दूसरे खंड में १९१८ में प्रकाशित हुई। दोनों खण्डों के

---

[6] विजय मोहन सिंह, *कथा समय*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2002, पृ. 12

[7] मदन गोपाल, *कलम का मजदूर: प्रेमचंद*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ. 49

प्रकाशन में तीन वर्ष का अंतराल था। इस बीच प्रेमचंद की उर्दू में प्रकशित कहानियों को लेकर उनके हिंदी अनुवाद धड़ाधड़ छपते रहे।"[8]

प्रेमचंद की लगभग ३०० कहानियाँ वातावरण, घटना, कथानक, चरित्र, संवेदना, देश-प्रेम सभी को ध्यान में रखकर लिखी गयीं हैं। इंद्रनाथ मदान के अनुसार "वे कहानी-लेखन कला के अग्रदूत थे और उन्होंने ३०० के लगभग कहानियाँ लिखी, जिनमें से कई साहित्य की अमर निधि हैं। उन्होंने कहानी को बिलकुल नया रूप दिया। वे पहले व्यक्ति थे जो सामग्री के लिए गाँव की ओर गए और जिन्होंने सीधे-सादे ग्रामीणों के घटनाहीन जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाया। उन्होंने इन सीधे-सादे धरती-पुत्रों, क्लर्कों और बड़े-बड़े व्यापारियों के मामूली मुंशियों के मन की हलचल को व्यक्त किया। वे उनके संघर्षों, प्रभावों और कमजोरियों, उनकी आशाओं और आशंकाओं, उनकी सहज धार्मिकता और अंधविश्वासों से भली-भांति परिचित थे। किसान का मन उनके लिए खुली हुई पुस्तक के समान था।"[9]

हालाँकि, प्रेमचंद की शुरूआती कहानी देश-प्रेम से ओत-प्रोत थीं जो सोजेवतन संग्रह में प्रकाशित हुई थीं। इसमें प्रकाशित कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' को प्रेमचंद की पहली कहानी माना जाता है लेकिन यह संग्रह चूँकि ज़ब्त कर ली गयी थीं इसीलिए सन १९१५ में सरस्वती में प्रकाशित 'सौत' को प्रेमचंद की पहली कहानी मानते हैं और 'पंच

---

[8] वही, पृ. ix

[9] डॉ. इंद्रनाथ मदान, *प्रेमचंद: एक विवेचन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 123

परमेश्वर' को प्रथम मौलिक कहानी के रूप में जानते हैं। प्रेमचंद की इस दौर की प्रतिनिधि कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', बूढी काकी', 'ईदगाह', 'नमक का दारोगा', 'दुर्गा का मंदिर', 'पंच परमेश्वर', 'मृत्यु के पीछे', 'गृहदाह', 'अलग्योझा' आदि हैं। प्रेमचंद ने कहानियों को मानवीय संदर्भों से जोड़ा था इसलिए उनकी कहानियों में पीड़ित, शोषित और वंचित वर्ग के अभिशप्त जीवन पर होने वाले अत्याचार, बेगार और शोषण का यथार्थ चित्रण है।

प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआँ', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'कफ़न' जैसी कहानियों के माध्यम से जहाँ दलितों की अमानवीय स्थिति को रेखांकित किया है वहीँ 'सत्याग्रह', 'सुहाग की राह', 'होली का उपहार', 'आहुति', 'भाड़े का टट्टू', 'जुलुस' जैसी कहानियों के माध्यम से देश-प्रेम को उद्घाटित किया। यहाँ राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में असहयोग आंदोलन का भी प्रभाव है। इस आंदोलन में स्त्रियों की भागीदारी का प्रक्षेपण साहित्य में भी देखा जा सकता है।

प्रेमचंद ने मनोरंजन और हास्य को केंद्र में रखकर भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं। "प्रेमचंद ने ऐसी भी कहानियां लिखी हैं जिनका सम्बन्ध पशुओं के स्वभाव से है। कुत्ता, बैल और गधा उनके प्रिय पशु हैं। 'पूर्व संस्कार', 'दो बैलों की कथा' और 'दूध का दाम' आदि कहानियां

बैल और गधे से सम्बन्ध रखती है। 'स्वत्व रक्षा' का विषय घोड़ा है। इन सभी कहानियों का उद्देश्य मनोरंजन है।"[10]

प्रेमचंद के 'शतरंज के खिलाडी', 'लॉटरी' आदि हास्य उत्पन्न करने वाली कहानी है। हास्य या तो किसी पात्र के उपर्युक्त वर्णन से पैदा होता है या कथावस्तु से उत्पन्न होता है या परिस्थिति से।

प्रेमचंद और प्रसाद के सामानांतर इस काल के और भी कई महत्वपूर्ण रचनाकार हैं जिन्होंने हिंदी कहानी में अपना अमूल्य योदान दिया। इनमें विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, राधिकारमण सिंह, पं. ज्वालादत्त शर्मा, पांडेय बेचैन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, विनोद शंकर व्यास, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद सदृश्य कौशिक जी की प्रारंभिक कहानियां उर्दू में है। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षा बंधन' है जो १९१३ में प्रकाशित हुई थीं। उनकी 'ताई' कहानी भी प्रसिद्द है। इस कहानी पर बांग्ला के शरतचंद्र की 'बिंदुर छेले' का प्रभाव है। राधिकारमण सिंह की 'कानो में कंगना' 'इंदु में प्रकशित हुई थी। सुदर्शन जी की 'हार की जीत' 1920 में सरस्वती में छपी थी। 'सच्ची शांति', 'एथेंस का सत्यार्थी, 'बाप का ह्रदय' आदि उनकी अन्य महत्वपूर्ण कहानी है। पं. ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा' नामक कहानी सन 1914 में छपी। "इस दौर के कहानीकारों में पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र' का उल्लेख विशेष रूप से आवश्यक है। उग्र की

[10] वही, पृ. 131

कहानी 'उसकी माँ' के आधार पर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उग्र को हिंदी का पहला राजनीतिक कहानीकार माना है।... उग्र की कहानियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। हिन्दू-मुस्लिम एकता, विधवा की स्थिति, अवैध संतान, वेश्यावृति और व्यभिचार आदि पर उन्होंने बहुत बेबाकी के साथ लिखा है।"[11]

चतुरसेन शास्त्री और वृन्दावन लाल वर्मा की कहानियाँ ऐतिहासिक दंत-कथाएं और घटनाओं पर आधारित है। 'कुम्भा की तलवार', 'परमार की बेटी, 'नूरजहां का कौशल', 'रूठी रानी', 'हल्दीघाटी में', आदि शास्त्री जी की महत्वपूर्ण कहनी है। "वर्मा जी ने भी कहानी लेखन की शुरुआत पहले दशक से कर दी थी और उनकी पहली कहानी 'राखीबन्द भाई' 1909 में तथा 'तातार और वीर राजपूत' 1910 में सरस्वती में प्रकशित हुई थी।"[12] "भगवती प्रसाद वाजपेयी की पहली कहानी 'यमुना' श्री शारदा में 1922 में और दूसरी कहानी 'अनधिकार चेष्टा' मर्यादा में 1926 के आस-पास प्रकशित हुई थी।"[13] इनकी कुछ कहानियों का स्वर रोमानी है तो कुछ कहानियों में प्रेम और सामाजिक-आर्थिक विसंगतियों के द्वन्द से उत्पन्न मनःस्थिति का अंकन है तो कुछ में पति-पत्नी संबंधों के विविध पक्षों का चित्रण मौजूद है।

---

[11] मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 19-20

[12] गोपाल राय, *हिंदी कहानी का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 177

[13] वही, पृ. 178

विनोदशंकर व्यास जी की अधिकतर कहानियाँ भावुकता से लवरेज प्रणय कथाएं हैं। व्यासजी की पहली कहानी 'ह्रदय की कसक' 1927 में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी में आध्यात्मिक प्रेम और शारीरिक प्रेम के द्वन्द का चित्रण मौजूद है।

प्रेमचंदोत्तर युग:

1936 से 1950 तक की कहानी को सामान्यतः प्रेमचंदोत्तर युग के अंतर्गत रखते हैं। प्रेमचंद के समय से शुरू हुई मनोवैज्ञानिक कहानी का दौर प्रेमचंदोत्तर काल में भी अनवरत चलती रही लेकिन इसके साथ-साथ इस काल में मनोविश्लेषणवादी कहानी के दौर की भी शुरुआत हुई। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने कहानियों को घटना बहुलता से मुक्ति दिलाई। इन्होंने घटना के साथ-साथ कहानी के आतंरिक बनावट को सघन बनाया। द्विवेदी युग की सारी नैतिक दवाबों के बावजूद इस काल में प्रेम-सम्बन्धों को लेकर कई महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी गयी। सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ वैयक्तिक सोच और व्यक्ति को केंद्र में रखने की परम्परा अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी आदि रचनाकारों ने किया इसलिए व्यक्ति मन की गहराइयों को छूने की कोशिश की गई।फलतः इस समय की रचनाओं पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और सार्त्र के अस्तित्ववाद का प्रभाव स्पष्ट है। "अपने परिचित कुमाऊंनी जन-जीवन के चित्रण से बचते हुए इलाचंद्र जोशी ने भी मनुष्य के मनोभावों को आधार बनाकर कहानियाँ लिखी जिनकी पहचान मनोवैज्ञानिक कहानियों के रूप में की गई। सामान्य मानवीय व्यव्हार के अध्ययन से अधिक उनकी

कहानियाँ कुण्ठाओंऔर ग्रंथियों पर केंद्रित थीं। यही कारण है कि वे मनोवैज्ञानिक से अधिक मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ हैं।"[14]

"इसी प्रकार यशपाल ने घोषित रूप से मार्क्सवादी होने पर भी व्यक्तिगत मनोभावों को केंद्र में रखकर कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखीं। चूँकि उनका लक्ष्य साहित्य द्वारा एक शोषण रहित समता मूलक समाज कि स्थापना था, उन्होंने भारतीय समाज में स्त्री कि दयनीय अवस्था पर अपने को विशेष रूप से केंद्रित किया।"[15]

हिंदी कहानी प्रगतिवादी/मार्क्सवादी विचारधारा से जोड़ने का श्रेय भी इसी काल के रचनाकारों को दिया जाता है। यशपाल, अमृत राय, रांगेय राघव, नागार्जुन आदि इसी श्रेणी के रचनाकार हैं।

जैनेन्द्र 'प्रेमचंद' के समानांतर ही अपनी रचना-यात्रा की शुरुआत कर चुके थे और दोनों पर गांधीवादी नैतिकता और आदर्श का प्रभाव भी है, परन्तु दोनों का कथा-विन्यास भिन्न है। 'जैनेन्द्र' की कहानियों में पुरुष के साथ-साथ स्त्रियों को प्रमुखता दी गई है और स्त्री जीवन की नैतिकता संबंधी मान्यताओं को भी उठाया गया है। इस संदर्भ में उनकी कहानी 'जाह्नवी', 'पत्नी', 'एक रात', 'रूकिया बुढ़िया' आदि को देखा जा सकता है। जैनेंद्र की कहानियों में स्त्री भी स्वाधीनता संबंधी सवालों को उठाती है और उससे जूझती है।

---

[14] मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 37

[15] मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 38

'"पत्नी' कहानी की मुख्य पात्र 'सुनंदा' कालिंदीचरण की पत्नी है। कालिंदीचरण अपने मित्रों के साथ स्वाधीनता संघर्ष संबंधी बातें कर रहा होता है। अंदर संनुदा उन बातों को सुनने और समझने की कोशिश कर रही है-'उसे जोश का कारण नहीं समझ में आता। उत्साह उसके लिए अपरिचित है। वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु है, स्पृहणीय, मनोरम और हरियाली। वह भारतमाता की स्वतंत्रता को समझना चाहती है पर उसको न भारतमाता समझ में आती है न स्वतंत्रता समझ में आती है। उसे इन लोगों की इस जोरों की बातचीत का मतलब समझ में नहीं आता फिर भी सच उत्साह की उसमें बड़ी भूख है। जीवन की हौंस उसमें बुझती सी जा रही पर वह जीना चाहती है। उसने बहुत चाहा है कि पति उससे भी कुछ देश की बात करे। उसमें बुद्धि तो जरा कम है फिर धीरे-धीरे क्या वह समझने नहीं लगेगी। सोचती है कम पढ़ी हूँ तो इसमें मेरा ऐसा कसूर क्या है? अब तो पढ़ने को मैं तैयार हूँ। लेकिन पत्नी के साथ पति का धीरज खो जाता है। खैर, उसने सोचा उसका काम तो सेवा है।"[16] आगे सुनंदा फिर सरकार पर इसी प्रकार मनन करती है पर उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। यहाँ जैनेन्द्र इस बात को इंगित करना चाह रहे हैं कि चाहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संबंधी बातें हों या परिवार या समाज की, बिना स्त्रियों की भागीदारी के यह संभव नहीं है। उस समय देश की जनसंख्या में जितनी संख्या पुरुषों की थी लगभग उतनी ही या उससे कुछ ही कम स्त्रियों की, ऐसे में इनकी उपेक्षा कर क्या आजादी पाई जा सकती है? जो व्यक्ति अपनी पत्नी या बच्चों के प्रति संवेदनहीन हो, क्या वह राष्ट्र के

[16] निर्मला जैन, *जैनेन्द्र कि कहानियाँ*, पूर्वोदय प्रकाशन, पृ. 138

प्रति संवेदित हो सकता है? जैनेन्द्र पर गांधीवादी आदर्श के साथ-साथ आज़ादी के लिए सक्रिय क्रन्तिकारी तत्वों का भी समवेश है। 'फांसी', 'ग़दर के बाद', 'जयसंधि', 'रानी महामाया' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

अज्ञेय की कई कहानियाँ क्रांति के समर्थन में लिखीं गयी है। क्रांति के लिए यहाँ मर मिटने वालों में स्त्री-पुरुष दोनों ही हैं। "अज्ञेय की ये क्रांति सम्बन्धी कहानियाँभी मोटे तौर पर दो प्रकार की हैं एक ओर यदि 'हारिति', 'अकलंक', विपथगा', 'कैसांड्रा का अभिशाप' जैसी कहानियां हैं तो दूसरी ओर 'छाया' और 'पगोडावृक्ष' जैसी। इनमें पहले वर्ग की कहानियां वे हैं जिनमें जेल की कोठरी में बैठकर चीन, रूस, क्यूबा और ग्रीस आदि किसी भी देश की पृष्ठभूमि पर कहानी लिख ली गयी है।... इनके मुकाबले अपने देश की पृष्ठभूमि और सन्दर्भों को अंकित करने वाली क्रांति सम्बन्धी कहानियाँ अधिक सहज और ग्राह्य बन परी हैं।'छाया', 'एक घंटे में', 'दारोगा अमीचंद' और 'पगोडावृक्ष' जैसी कहानियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।"[17] अज्ञेय ने देश विभाजन की पृष्ठभूमि पर, स्त्री जीवन पर और प्रेम पर भी कुछ कहानियाँ लिखीं हैं। स्त्री की कुंठा और असहायता से सम्बंधित कहानी के रूप में 'गैंग्रीन' और 'कविप्रिया' का उल्लेख किया जा सकता है। वहीँ 'जिजीविषा', 'चिड़ियाघर', 'खितीन बाबू' जैसी कहानी निम्न मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित प्रगतिशील कहानी है। जैनेन्द्र और अज्ञेय की तरह यशपाल इस काल के प्रतिनिधि रचनाकार हैं। यशपाल की शरुआत की रचनाओं पर उनके अपने व्यक्तिगत

[17] मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 43

जीवन और लम्बे कारावास का प्रभाव है। प्रेमचंद के बाद यशपाल ही ऐसे रचनकार हैं जिनकी रचनाओं में मुस्लिम पात्रों को केंद्र में रखकर कहानियां लिखीं गयी हैं। 'पर्दा' उनकी ऐसी ही कहानी है। 'करवा का व्रत', 'पाप की कीचड', आदमी और खच्चर', 'गंडेरी', 'अस्सी बट्टा सौ', आदि उनकी अन्य उल्लेखनीय कहानी है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी रचनाकार हैं जिनका इस दौर में महत्वपूर्ण योगदान है। निराला की 'देवी' और 'चतुरी चमार', भगवती चरण वर्मा की 'दो बांके' और 'मुग़लों ने सल्तनत बक्स दी' ऐसी ही कहानियाँ हैं। उपेंद्र नाथ अश्क पंजाबी और उर्दू की पृष्ठभूमि से हिंदी में आये थे। 'कंकड़ का तेली', 'डाची', 'अंकुर', आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानी है। विष्णु प्रभाकर ने प्रेमचंद के जीवन काल में ही अपनी अकथा यात्रा की शुरुआत की थी। 'कितना झूठ', 'सुराज', 'तांगेवाला', 'हिमालय की बेटी', 'मारिया' आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानी है।

स्वातंत्रोत्तर कहानियाँ

हिंदी की नई कहानियाँ स्वतंत्रता के बाद की कहानियाँ हैं। आजादी बाद इस सच्चाई पर से पर्दा धीरे-धीरे उठने लगा कि केवल स्वतंत्रता को पाकर बहुत दिनों तक खुश नहीं रहा जा सकता। स्वतंत्रता कोई आत्ममोह नहीं है। आजादी के बाद यही वह समय है जब आर्थिक दवावों के कारण और बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भारतीय चरित्र बाहर से कुछ और तथा भीतर से कुछ और दिखने लगा। ऊपर से शासन का स्वरूप समाजवादी था और आज भी है किन्तु आतंरिक रूप से उसकी बुनियाद पूंजीवाद पर ही टिकी रही। थोपी हुई औद्योगीकरण के कारण शहरीकरण और महानगरीकरण की

प्रक्रिया द्रुत गति से चली। पश्चिम में अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव ने एक छद्म बौद्धिकता को भी जन्म दिया। कई बार कहानी में अकारण ऊब, संत्रास, निराशा, कुंठा, एवं सेक्स के नंगेपन को चित्रित किया जाने लगा।

भारतीय ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में यह एक संक्रमणकालीन दौर था। उस समय, सामाजिक, सांस्कृतिक विघटन ने सामाजिक व्यवस्था में दरारें उत्पन्न की। मन टूटने लगा, परिवार टूटने लगा और अंततः इस टूटने और जुड़ने की प्रक्रिया में जिस संक्रमणकारी द्वंद्व को उत्पन्न किया उसने जीवन के पारम्परिक मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर दिया।

सहयित्यिक रूप से इस काल में 'नई-कहानी' में प्रयुक्त 'नई' शब्द को लेकर कई प्रश्न भी खड़े किये गए और यह विवाद का मुद्दा भी बना। डॉ. नामवर सिंह ने समान्यतः किसी रचना में 'नया' क्या है? इसे 'रूप' और 'शिल्प' से जोड़ा है और कविता से इसकी तुलना करते हुए लिखा है की- "साहित्य रूप की दृष्टि से कहानी स्वयं बहुत आधुनिक है। वह नवीनता के साथ उत्पन्न ही हुई है। इसलिए सौ-पचास वर्षों के इस छोटे से इतिहास में कहानी के रूप में किसी मौलिक परिवर्तन की न तो सम्भावना है और न आवशयका ही।"[18]

हालाँकि वे इस बात को स्वीकारते भी हैं कि शिल्प को लेकर नए प्रयोग करने की प्रवृति आज के कहानीकारों में कवियों की तरह ही है। वे कहते हैं कि- "और अब कहानीकार भी

[18] डॉ. नामवर सिंह, *कहानी नयी कहानी*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 13

अन्वेषण, प्रयोग, नयी संवेदना, सांकेतिकता, सम्प्रेषणीयता, जटिलता, दुरूहता, बिम्ब, प्रतीक वगैरह कि बातें करने लगे हैं। फिर कौन कह सकता है कि कहानी में नए प्रयोग नहीं हो रहे हैं? अभी तक जो शब्द नयी कविता के लिए बदनाम (?) थे, उन्हीं से कहानी भी अलंकृत हो रही है।"[19]

शिल्प के अतिरिक्त इस दौर की सबसे बड़ी खासियत यह रही कि इसमें विभिन्न रचनाकारों ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर लिखा। निर्मल वर्मा, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, मोहन राकेश, शेखर जोशी, भीष्म साहनी, अमरकांत, आदि सभी इसी काल के रचनाकार हैं। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि इस दौर में जहाँ एक तरफ शहरी जीवन और आम आदमी की मजबूरियां, उनकी पीड़ा, उनकी ख्वाहिशों आदि का चित्रण हुआ है वहीं दूसरी तरफ गाँव को लेकर लिखी जाने वाली कहानियों का पदार्पण नए कलेवर के साथ हुआ। फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय और शिव प्रसाद सिंह की कहानियाँ इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक और यथार्थवादी कहानियाँ

इस दौर की समाजवादी यथार्थवादी कहानियाँ जीवन के विविध पक्षों का चित्रण नयी ताज़गी और सर्जनात्मकता को लेकर उपस्थित हुई। निजी अनुभवों की प्रमाणिकता ने जहाँ वैयक्तिकता को महत्व दिया वहीँ मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय लोगों की पीड़ा की अभिव्यक्ति और अस्तित्व की तलाश ने इसे सामाजिक सन्दर्भों से संदर्भित किया। मोहन राकेश, अमरकांत, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी आदि की कहानियों में आम आदमी की

[19] वही, पृ. 31

मजबूरियों को, बेरोजगारी को, कस्बाई नगरीय, महानगरीय जीवन की समस्याओं और इसके कारण टूटते हुए मूल्यों का, पारिवारिक विघटन का, आदि का बखूबी चित्रण हुआ है।

मोहन राकेश की 'मंडी', मन्नू भंडारी की 'खोटे सिक्के', कमलेश्वर का 'बेकार आदमी', अमरकांत का 'दोपहर का भोजन' आदि बेरोजगारी के सवाल को उठाता है और मज़बूरी से पिसते हुए आदमी की पहचान कराता है।

मोहन राकेश का 'मलवे का मालिक' राजनीतिक संकट के रूप में विभाजन की त्रासदी का चित्रण है। मोहन राकेश की कुछ अन्य कहानियाँ जैसे 'परमात्मा का कुत्ता', 'आखरी सामान', 'मिस पॉल', 'भूखे और सुहागिने' आदि सामाजिक सन्दर्भों से जुडी हुई कहानियाँ हैं।

कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया', 'सुबह का सपना', 'कसबे का आदमी', 'पानी की तस्वीर', 'दिल्ली में एक मौत', आदि कहानियाँ निम्न मध्यवर्गीय कस्बाई जीवन पर आधारित है। 'राजा निरबंसिया' दोहरे शिल्प की कथा है। जगपति और चंदा की कथा के सामानांतर राजा-रानी की लोककथा चलती रहती है। भीष्म साहनी की कहानी 'गंगों का जाया' में रचनाकार ने पारिवारिक चेतना को वर्गीय चेतना में रूपांतरित किया है। इनकी कहानियों में विषमता बोध दिख जाता है। अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक', जिजीविषा और जीवटता का महत्वपूर्ण उदहारण है। कहानी का मुख्य पात्र है

'रजुआ'। रजुआ के चरित्र को देखकर यह अंदाज़ा लगाना मुश्किल है कि वह जिंदगी से जोंक कि तरह चिपटा है या जिंदगी उससे जोंक कि तरह चिपटी है। "अमरकांत कि कहानियाँ एक विशेष अर्थ में भारतीय है: वे सामान्य भारतीय व्यक्ति के संस्कारों, भावनाओं और भावुकता को भी व्यक्त करती हैं तथा उनके साथ जो पिछड़ापन, अंधविश्वास और पाखंड जुड़ा हुआ है, उन्हें भी विडम्बनात्मक ढंग से उजागर करती चलती हैं। वे भारतीय निम्नमध्यवर्गीय मनुष्य कीभावनाओं को जितना समझते और उनका आदर करते हैं उतना ही उसके अंतर्विरोधों को भी तीखे व्यंग्यात्मक ढंग से व्यक्त करते हैं।"[20] अमरकांत की एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी है 'डिप्टी कलक्टरी'। इस कहानी में किसी पद को प्राप्त करने के लिए उम्मीद की हताशा की चरम तक व्यंजित किया गया है। स्वतंत्रता पश्चात् लोगों ने बहुत सी उम्मीद लगा ली। अभाव और असफलताओं से घिरा हुआ व्यक्ति वास्तविकता को समझने को तैयार नहीं होता। सकलदीप बाबू डिप्टी कलक्टरी की लिस्ट में लड़के का नाम न देखकर भी यह आशा लगा रखते हैं कि अगली बार नाम जरूर आ जायेगा।

राजेंद्र यादव मूलतः मध्यवर्गीय जीवन पर रचना करते हैं। 'खेल खिलौने', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'उखड़े हुए लोग' आदि इनकी महत्वपूर्ण कहानी है। धर्मवीर भारती भी इस काल के सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने वाले कहानीकार हैं। इनके द्वारा लिखीं गयी 'मुर्दों का गाँव', 'सावित्री न. 2', 'चाँद और टूटे हुए लोग' आदि में निम्नमध्यवर्गीय जीवन के

---

[20] विजय मोहन सिंह, *कथा समय,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2002, पृ. 30

विभिन्न पक्षों को तथा समस्यायों का चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त रविंद्र कलियाँ, यात्री, ज्ञान रंजन आदि कहानीकार ने सामाजिक यथार्थ को केंद्र में रखकर कहानियाँ लिखीं हैं।

आधुनिक भावबोध कि कहानियाँ

स्वंत्रता पश्चात् तेजी से उद्योग निर्माण, शिक्षा का प्रसार आदि ने जहाँ तेजी से आधुनिकीकरण को बढ़ावा दिया वहीँ लोगों की उम्मीद और भौतिकवादी लालसा को भी जगाया। फलतः जहाँ संयुक्त परिवार के मूल्य टूटने-बिखरने लगे और अकेलापन एक मूल्य की तरह उभरने लगा वहीँ एकल परिवार में स्त्री शिक्षा और स्त्री की आर्थिक आजादी के वजह से दांपत्य जीवन में भी कठिनाइयां उत्पन्न हुई। द्रुत नगरीय सभ्यता, आधुनिकता के आकर्षण तथा बौद्धिकता से प्रभावित होने के कारण समाज में व्याप्त आंतरिक ईर्ष्या, स्वार्थपरकता, जीवन की कृत्रिमता आदि ने कुंठा, संत्रास और अवसाद को जन्म दिया। निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, मन्नूभंडरी, उषा प्रियंवदा, शिवानी, कृष्णा सोबती, आदि की कई कहानियां इन्हीं भावबोधों की कहानी है।

निर्मल वर्मा आधुनिक भावबोधों को अभिव्यक्ति देने वाले अग्रणी रचनाकार हैं । उनकी कहानी 'लन्दन की रात' में घुटन, चींख, संत्रास, अकेलेपन को कई दृष्टियों स एपिरोया गया है। 'अँधेरे में' कहानी में तीसरे आदमी की उपस्थिति के कारण पति-पत्नी का जीवन तहस नहस हो जाता है। पीड़ा भड़ी प्रतीक्षा निर्मल वर्मा की कहानी परिंदे का मुख्य स्वर है । कहानी की नायिका लतिका अतीत में ही जीती है।

नयी कहानी में प्रेम का स्वरूप पिछली कहानियों से भिन्न है । यहाँ के स्त्री पात्रों का मानसिक गठन परंपरागत नारी चरित्रों के मानसिक गठन से बहुत भिन्न है। यहाँ स्त्रियां अपने पति के विरूद्ध आवाज उठाती है। वह उनसे मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से अपना जीवन व्यतीत कर सकती हैं। स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में यह सम्भावना भरा प्रयास है लेकिन इसका अर्थ यह कतई नहीं है किइससे स्थितियां सहज हुई बल्कि वह और भी उलझ गयी। पति-पत्नी में तनाव से मुक्ति के लिए वे अलग होने का रास्ता चुन सकते हैं परन्तु यह प्रश्न यहाँ अनुत्तरित है। मन्नू भंडारी कि कहानी 'बंद दराजों के साथ', मोहन राकेश कि 'एक और जिंदगी' इसी स्वप्न पर आधारित है। राजेंद्र यादव ने अपनी कहानी 'भविष्य के आस पास मंडराता अतीत' में इसी प्रश्न को उठाया है।

मोहन राकेश की 'एक और जिंदगी' त्रिकोणीय प्रेम के कारण दांपत्य जीवन में आये कटुता और स्त्री की आजादी जैसे सवालों पर आधारित कहानी है। यह एक रोमानी कहानी है । जहाँ स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त कर ओहदे तो पा रही हैं परन्तु उसके इस नए अस्तित्व को उसका पति नहीं स्वीकार पाता और कुंठित हो जाता है जिसका दुष्परिणाम पुरे परिवार को झेलना परता है।

मोहन राकेश की 'मिस पॉल' कहानी की मिस पॉल अपनी असामान्यता और मोटापे के कारण सहज जीवन नहीं जी पाती और हर दिन के व्यग्यात्मक फब्तियों से बचने के लिए वह अपनी लगी लगाई नौकरी छोड़कर कुल्लू और मनाली के बीच रायसन नामक जगह पर जाकर अकेले रहने लगती है। अकेलापन यहाँ जीवन मूल्य की तरह है जो मिस पॉल को सुरक्षा देता है।

उषा प्रियम्वदा की 'वापसी' कहानी का एक रिटायर्ड आदमी अपने रिटायरमेंट पर बहुत खुश होता है। घर वापस आता है इस उम्मीद के साथ की पूरी जिंदगी वह परिवार और बाल-बच्चों से दूर रहा है, अब उसे परिवार का साथ मिलेगा। लेकिन एक लम्बे अरसे के बाद वह अपने घर जाता है तब वह मानसिक अकेलेपन का शिकार हो जाता है। वहां जाकर उसे लगता है कि वह उस घर में अनअपेक्षित है। वहां अब किसी को उसकी जरुरत नहीं है। वह कोई छोटी-मोटी नौकरी ढूंढता है और वहां से पलायन कर जाता है। उसके पलायन के पीछे है मानसिक अकेलापन।

भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' भी एक बुजुर्ग महिला पर केंद्रित कहानी है। इस कहानी का मुख्य पात्र शामनाथ अपने चीफ को दावत पर घर बुलाता है। दावत की तयारी के दौरान वह घर के फालतू सामान को हटा रहा होता है उस समय उसे अपनी निरक्षर और बूढी माँ फालतू सामान से भी बड़ी समस्या लगती है। वह एक कूड़े की तरह अपने माँ को इस घर से उस घर में छिपता फिरता है। यह विडम्बना ही इस कहानी का मुख्य अभीष्ट है।

आंचलिक कहानियाँ

आँचलिक कहानियाँ अंचल विशेष से जुड़कर एक नएपन के साथ साहित्य में प्रकट हुईं। इन कहानियों में एक स्थानियता थी इसलिए अपने क्षेत्र विशेष से लगाव, वहाँ के लोकगीत, लोकनृत्य, लोकधुन, स्थानीय भाषा, रीति-रिवाज के प्रति एक खास मोह ने साहित्य को नयी जीवंतता और ताजगी प्रदान की। फणीश्वरनाथ 'रेणु', शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय इसी कोटि के रचनाकार हैं। इनकी कहानियों में मिट्टी की सौंधी महक, बैलों की

घंटी, धान की झूमती बालियां पाठकों का मन मोह लेती हैं। इन रचनाकारों में लोक संस्कृति की चिंता ही इन्हे ग्रामीण अंचल के प्रति इतना आकर्षित करती है। रेणु 'नयी कहानी' के दौर के ही रचनाकार हैं। इन्होंने शहरी जीवन की विडम्बनाओं पर भी कहानियां लिखीं हैं, ग्रामीण जीवन की मिठास पर भी और उनमे आ रहे परिवर्तनों पर भी। रेणु की कहानियां टूटे हुए मूल्यों और सपनो की अभिव्यक्ति है। 'रसूल मिस्तिरी' (1946), 'रसप्रिया' (1955), 'ठेस' (1957), 'सरपंची का सगुन' (1958), 'संवदिया' (1962), 'लालपान की बेगम' ( ), 'तीसरी कसम उर्फ़ मरे गए गुलफाम' ( ), 'आदिम रात्रि की महक', आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानी है।

'रसप्रिया' जहाँ लोकसंगीत की विलुप्त हो रही स्थिति पर है वहीँ 'ठेस' सिरचन जैसे एक कुशल कारीगर की कहानी है। रेणु ने दिखाया है कि स्वाभिमानी और अपने काम में मांझा हुआ सिरचन आज खेत में मजदूरी करने के लिए विवश है। 'सरपंचमी का सगुन' में रेणु ने खेत और किसान के रिश्तों के बीच हल के फाल का क्या महत्व है उसे दर्शाया है। इसी तरह 'रसप्रिया', 'लाल पान कि बेगम', 'तीसरी कसम', 'आदिम रात्रि कि महक' आदि कहनायों में प्रेम भी कई रूप में है और लोक संस्कृति से जुडी विशेषताएं भी।

मार्कण्डेय कि कहानी 'गुलरा के बाबा', 'हंसा जाई अकेला', 'माटी' आंचलिक कहानियां हैं जिसमें अतीतोन्मुखता का रोमांटिक रंग है। शिवप्रसाद सिंह कि कहानियों में ग्रामीण

यथार्थ और आंचलिकता के प्रति काफी उत्साह दिखता है। 'आर पार की माला', 'मुर्दा सराय', 'खैरा पीपल न डोले' आदि उनकी महत्वपूर्ण कहानी है।

समकालीन कहानी

नयी कहानी के दौर तक कहानी एक प्रकार से विकास की लगभग अवस्थाओं को प्राप्त कर चुकी थी। इसलिए कहानी अब किसी एक धारा की मोहताज़ नहीं रह गयी थी। कहीं रचनाओं में विचार की इतनी प्रधानता थीं की नायक, नायिका और अन्य पात्र गौण होने लगे और विचार ही कथा के केंद्र में आने लगा। कुछ रचनाओं में मार्क्सवादी विचारधार, नक्सलवादी आंदोलन और आपातकाल का प्रभाव दिखा तो कुछ कहानियों में इन विचारधाराओं से अपने को बचाने का आग्रह भी। कुल मिलाकर रचनाएँ किसी एक खांचे में बंधने के लिए नहीं बानी उसने अपने स्वभाव और प्लाट के अनुरूप ही रास्ता तलाशा। "समकालीन कहानी जहाँ एक ओर राजनीति की इकहरी और यांत्रिक निष्कर्षों वाली सोच से मुक्त हुई, वहीँ वह समाज और राष्ट्र के सन्दर्भों में अधिक गंभीर और बेबाक सवालों के सामने खड़े होने की कोशिश कर रही है।"[21]

इस काल के महत्वपूर्ण रचनाकारों में उदय प्रकाश, स्वयं प्रकाश, सृंजय, मिथिलेश्वर, ज्ञान रंजन आदि हैं। उदय प्रकाश की कहानी 'और अंत में प्रार्थना' विचार को जीवनानुभूतियों के सन्दर्भ में उभारती है। उदय प्रकाश की 'तिरिछ' और 'छपन्न तोलेका करघन' उनकी अन्य महत्वपूर्ण कहानी है। 'तिरिछ' में जहाँ रचनाकार यह दिखलाने की कोशिश करता है

[21] मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ. 181

कि तिरिछ के कांटे का तो इलाज है लेकिन समाज के कांटे का इलाज नहीं है। वहीँ 'छपन्न तोले का करघन' 'बूढी काकी', 'चीफ की दावत' जैसी कहानी का ही विकास है। इस कहानी में लेखक यह बतलाना चाह रहा है कि पुरानी पीढ़ी अब अपनी बौद्धिकता के द्वारा ही अपना महत्व बनाये रख सकती है।

सृंजय कि कहानी 'कामरेड का कोट' मध्य वर्ग पर व्यंग्य है। जो नेतृत्व स्वयं संपत्ति के मोह से अलग नहीं हो पाया वह संपत्ति के अधिकार को ख़त्म करने की लड़ाई कैसे लड़ सकता है? लेखक कहीं न कहीं यह बतलाना चाहता है कि परिवर्तन सर्वहारा की एकता से आएगा।

असगर वजाहत की 'स्वीमिंग पूल की कहानियां' व्यंग्य की एक खास खनक के साथ अपने समय की कुरूपताओं के विरुद्ध हस्तक्षेप करती है।

गोबिंद मिश्र की कहानी 'अंतःपुर' भी क्रांति और प्रगतिशीलता का मुखौटा लगाए लोगों को बेनकाब करती है।

इस काल में स्वयं प्रकाश एक संभावनाशील कथाकार हैं। उनकी कहानी 'बर्डे' शीर्षक कहानी आज की मध्यवर्गीय उपभोक्तावादी मानसिकता पर चोट करती है। मिथिलेश्वर की कहानियाँ आंचलिक हुए बिना बदलते हुए ग्राम्य जीवन को व्यंजित करने में सक्षम है। 'मेघना का निर्णय' कहानी में वे यह बताते हैं कि मुक्ति संघर्ष में ही है। इनकी एक और कहानी 'बाबूजी' एक प्रकृतवाद कहानी है।

महेंद्र भल्ला और कामतानाथ भी इस दौर के चर्चित रचनाकारों में से हैं। सेक्स और उपभोक्तावादी संस्कृति का दवाब इनकी रचनाओं का मुख्य आकर्षण है। महेंद्र भल्ल की 'फुंसियां', 'असली शुरुआत' आदि महत्वपूर्ण कहानी है वहीँ 'छुटियाँ', 'समझौता', और 'अंतेष्टि' आदि कामता नाथ की महत्वपूर्ण कहानी है।

ममता कालिया की 'सेमिनार' कहानी व्यंग्य को बहुत ही सार्थक और सर्जनात्मक तरीके से प्रस्तुत करती है। चित्रा मुद्गल की 'लकडबग्घा' कहानी सामंती शोषण के विरुद्ध एक स्त्री के विरोध की कहानी है। इस काल तक न सिर्फ कई महिला लेखिका विभिन्न विषयों पर अपने लेखन से अपनी पहचान बनती रही बल्कि स्त्री विमर्श की दृष्टि से भी साहित्य को मजबूती प्रदान करती रही। मृदुला गर्ग, मृणाल पण्डे, अलका सरावगी, राजी सेठ, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलि श्री, आदि इस श्रेणी की महत्वपूर्ण स्त्री लेखिका हैं।

इसके अतिरिक्त 80 के दशक में हिंदी में दलित कहानियां भी आने लगी। दलित कहानियां सामाजिक वर्ण व्यवस्था के विरोध में आई थीं। डॉ. शरण कुमार लिम्बाले के अनुसार- "इस नयी साहित्यिक धारा ने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया है। नए अनुभव, नयी अनुभूति, नए शब्द, नए नायक, नई दृष्टि और वेदना विद्रोह का रसायन दिया है। इतना ही नहीं इसने तो भारतीय साहित्य समीक्षा को आत्मपरीक्षण करने के लिए लगा दिया और पाठक समीक्षकों के मन में मूलभूत प्रश्न पैदा किये।"[22] ओम प्रकाश वाल्मीकि, मोहन

[22] डॉ. शरण कुमार लिम्बाले, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, वाणी प्रकाशन, 2010, पृ. 49

दास नैमिशराय, श्योराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान आदि प्रमुख दलित कहानीकार हैं।

इस प्रकार कहानी आज भी संभावनाओं से भरी पथ पर अनवरत अग्रसर है।

उपन्यास

'उपन्यास' के शाब्दिक अर्थ को लें तो वैसी रचना जो जीवन के निकट हो, 'उपन्यास' है या वह साहित्यिक विधा जो गद्य रूप में लिखा जाता है और जिसमें जीवन का समग्रता में यथार्थपरक चित्रण होता है। 'उपन्यास' के लिए पश्चिम में 'नॉवेल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पश्चिम में 'रेनेशा' की पृष्ठभूमि में जो यथार्थपरक रचनाएँ लिखी गई उन्हें आरंभ में 'नोवास' कहा जाता रहा जो आगे चलकर नॉवेल में तब्दील हो गया।

जीवन की समसामयिक वास्तविकता को उसके जटिल बहुस्तरीय संबंध-प्रसंगों को, इतिहास की प्रक्रिया में मनुष्य की नियति को जिस सार्थकता से उपन्यास की भाषा ने पकड़ा वह किसी और विधा में संभव ही नहीं था। मध्य वर्ग ने इसे विशेष रूप से प्रश्रय दिया और आगे चलकर राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में अहम योगदान दिया और राजनीति का भी दिशा निर्देशक बना । 'उपन्यास' इसी मध्यवर्गीय समाज की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से जुड़ा साहित्यिक रूप रहा है। भारतेंदुकाल से लेकर आज तक 'उपन्यास' अपनी लोकप्रियता को बरकरार रखने में कामयाब रहा है। इसके पीछे कई पहलू विचारणीय हैं।

दरअसल 16वीं सदी में ब्रिटेन में शुरू हुई औद्योगिक क्रांति ने वाणिज्य-व्यापार, संचार और यातायात के साधन को आसान बना दिया जिससे बड़े शहरों और छोटे शहरों के बीच की दूरी कम हो गई। इससे लोगों के बीच आदान-प्रदान का सिलसिला बढ़ा और एक-दूसरे की संस्कृतियों को जानने की इच्छा भी पनपी। इसके अलावा आय का वितरण भिन्न रूपों में होने लगा जिसने मध्यवर्ग की इच्छाओं को भी जन्म दिया। इस विशाल मध्यवर्ग के लिए उच्च वर्ग के कलाबोध का वहन मुमकिन नहीं था। यह वर्ग अपने वास्तविक सुख-दु:ख और यथार्थ जीवन की समस्याओं में दिलचस्पी ले सकता था। पुराने ढंग के अतिरंजित और काल्पनिक आख्यान इनकी साहित्यिक भूख को तुष्ट करने में असमर्थ था। ऐसे में उपन्यास ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'उपन्यास' पहले पहल अपनी जड़ें इंग्लैंड और फ्रांस में जमाई। हालांकि उपन्यास 17वीं सदी से ही लिखी जाने लगी थी पर इसका असली विकास 18वीं सदी में हुआ।

1749 ई. में हेनरी फील्डिग का टॉमजोंस छ: खंडों में प्रकाशित हुआ। चाल्स डिकेंस के उपन्यास 'पिकविक पेपर्स" 1836 में एक धारावाहिक के रूप में एक पत्रिका में छपती थी जिसकी लोकप्रियता आज के टी.वी. सीरियलों की तरह थी। चाल्स डिकेंस के उपन्यास सिर्फ मनोरंजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं थे बल्कि इनकी रचनाओं में शहरी जीवन ने जिस मशीनीकरण को जन्म दिया था उसके दुष्परिणामों का सजीवता से चित्रण है। इसने एक प्रकार से तत्कालीन समाज के यथार्थ और उससे उत्पन्न विचारों को भी स्थान दिया। एमिल जोला का जर्मिनल (1885) खदान मजदूरों के शोचनीय हालत के वर्णन से संबद्ध

उपन्यास है। इसी तरह 'टॉमस हार्डी' (1840-1928) ने इंग्लैंड में तेजी से गायब होते देहाती समुदायों के बारे में लिखा। इस तरह यूरोप में उपन्यास का जो स्वरूप था भारत में वह उन रूपों में नहीं था। हालांकि इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आधुनिक रूप से इसने यूरोपीय प्रभाव को भरपूर मात्रा में ग्रहण किया था। चाहे बंगला भाषा हो, मराठी, उर्दू, हिन्दी या तमिल; यूरोपीय औपन्यासिक शैली को बहुत हद तक अपनाया था। शुरुआत के अधिकांश उपन्यास या तो अंग्रेजी भाषा के उपन्यास के अनुवाद थे या वहाँ लिखे गए साधारण उपन्यासों की शैली से प्रभावित थे। विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे ने 'आलोचना' पत्रिका में 'उपन्यास' पर लिखे गए लेख में इसी ओर इंगित किया है- "'बालमित्र', फ्रेंच से अंग्रेजी और अंग्रेजी से मराठी में अनूदित प्रसिद्ध और छोटी कथाओं का संग्रह है। इसी तरह 'जग हे असे आहे' (ऐसी है दुनियादारी), 'वाईकर भरणी' (वाई निवासी पंडितणी), पुरी हाँसे फिटली (अच्छा हुआ शौक), रायवाड्यातील कट' (प्रासाद में साजिश), 'नाहीच ना ऐकायचे" (तो आखिर सुनना नहीं है), शिलादित्य', करण वाघेला आदि यथार्थवादी उपन्यासों की कथावस्तुएँ मौलिक न होकर कतिपथ साधारण या अच्छे फ्रेंच और अंग्रेजी ग्रंथों की अनुवाद ही हैं... सूचनांतर हैं। यद्यपि ये उपन्यास रूपांतर, अनुवाद और सूचनांतर हैं तथापि यह कहना उचित नहीं होगा कि इनका कोई महत्व नहीं है विदेशी भाषाओं से मराठी में अवतरित इन उपन्यासों में कई उपन्यास

बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं और दो-तीन पीढ़ियों से मनोरंजन के कारण बने हुए हैं। ये अनुवाद या रूपांतर इतने अच्छे हैं कि मराठी के उत्तमोत्तम ग्रंथों... कहा जा सकता।"[23]

अब यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि कथा उपन्यास सीधे पश्चिम से आया या इसके उद्भव में भारतीय साहित्य की भी कोई परम्परा रही है? दरअसल इन अर्थों में यह कहा जा सकता है कि 'उपन्यास' के उदय की कोई निश्चित व्याख्या नहीं है ।

अलग-अलग क्षेत्र, वातावरण और परिस्थितियों में 'उपन्यास' विधा अलग-अलग रूपों में विकसित हुई। यूरोप में औद्योगीकरण जबरन नहीं लाई गई थी बल्कि उसने सामंतवादी ढांचे को तोड़कर अपना रास्ता तैयार किया था जबकि उसके उपनिवेश जैसे भारत में स्थिति भिन्न थी। एक तो उस समय तक 'राष्ट्रवाद' की परिकल्पना उन रूपों में नहीं थी जिन रूपों में आज है दूसरी तरफ भारत बहुभाषा-भाषी और संस्कृति के सहअस्तित्व वाला क्षेत्र था। अत: यहाँ राष्ट्रीयता से ज्यादा क्षेत्रीयता के तत्व प्रबल थे। यहाँ औद्योगीकरण भी देशीय हित से जुड़ा हुआ प्रश्न नहीं था बल्कि यह अपने मातृदेश के हितों से परिचालित था। यहाँ रेल, डाक, तार जैसी सुविधाएँ हो या वाणिज्य-व्यापार में बढ़ोतरी की बात ये सभी शासक देशों के लाभ से जुड़े थे। लेकिन यह उपन्यास विधा की कलात्मकता और इसका लचीलापन था कि यह स्थानीय समस्याओं और तत्कालीन प्रवृत्तियों के अनुरूप ढलकर साहित्य को एक नई पहचान देता रहा। इसका उदाहरण ओचंदू मेनन (1847-1899) के अनुभवों से लिया जा सकता है जिन्होंने बेंजामिन

---

[23] काशीनाथ विश्वनाथ राजवाडे, 'उपन्यास', *आलोचना*, जनवरी-मार्च 1988, पृ. 11

डिज़ायली के उपन्यास 'हेनरीएटा टेम्पल' का मलयालम में अनुवाद करने की कोशिश की लेकिन उन्हें महसूस हुआ कि 'केरल' के उनके पाठक अंग्रेजी उपन्यास के चरित्रों के रहन-सहन, उनके कपड़े, बोल-चाल, भाषा, रस्मोरिवाज आदि से परिचित नहीं हैं इसलिए उन्होंने अनुवाद का विचार छोड़ दिया और अंग्रेजी उपन्यासों की तर्ज पर 'इंदुलेखा' (1889) नाम से मलयालम में उपन्यास लिखा जो मलयालम का पहला आधुनिक उपन्यास माना गया ।

इस तरह एक तरफ उपन्यास विधा ने जहाँ अपने तत्कालीन जरूरतों के अनुरूप अपने को ढाला वहीं कुछ और तथ्य भी थे जिसने उपन्यास के उद्भव और जनसाधारण में इसे लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वैश्विक स्तर पर औद्योगीकरण और प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार ने उपन्यास के स्वरूप और विस्तार को एक नया आयाम प्रदान किया। मुद्रण की तकनीक सबसे पहले चीन में विकसित हुई और जापान, कोरिया, इटली, जर्मनी होते हुए पूरे विश्व में फैली। जर्मनी के 'योहान गुटेनबर्ग' ने प्रेस की स्थापना में काफी योगदान दिया। उसने अक्षरों के मुद्रण की नई तकनीक विकसित की जिसने छपाई की प्रक्रिया को और भी आसान बनाया। आगे इसका विकास यूरोप में हुआ और वहाँ से वह विश्व के अन्य देशों में फैला। इस तरह मशीन से छपने के बाद किताबों की आसानी से उपलब्धता ने पढ़ने की एक नई संस्कृति को जन्म दिया जिससे एक बड़ा पाठक वर्ग तैयार हुआ।

भारतीय भाषाओं में प्रारंभिक उपन्यास बंगाली और मराठी में लिखे गए। मराठी का का पहला उपन्यास बाबा पद्माणजी का 'यमुना पर्यटन' (1857) था जिसमें विधवाओं की

दुर्दशा को आधार बनाया गया है। इसके बाद 'लक्ष्मण मोरेश्वर हाल्बे' की 'मुक्तमाला' (1861) आया। यह कोई यथार्थवादी कृति नहीं थी, बल्कि इसके जरिए एक 'रूमानी' कहानी के कलेवर में नैतिक सीख देने की कोशिश की गई है।

यदि 'उपन्यास' के उदय की पृष्ठभूमि को देखें तब इसे स्वाधीनता संघर्ष के विभिन्न चरणों और राष्ट्रवाद के उदय के साथ जोड़ा जा सकता है। यहाँ ऐसा इसलिए भी कहा जा रहा है क्योंकि भारत में औद्योगीकण किसी क्रमबद्ध कड़ी के रूप में नहीं आया। भारतीय समाज में आज भी सामंतवादी समाज, आधुनिक समाज, उत्तर आधुनिक समाज, आदि सभी का सहअस्तित्व एक साथ देखा जा सकता है। ऐसे में उपन्यास ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में 19वीं सदी के तत्कालीन राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष जैसे राष्ट्रीय सवालों से स्वयं को जोड़ा और न सिर्फ अपने को पल्लवित करता रहा वरन् भारतीय जनता के मन में आजादी के भाव को जगाने और उसके प्रसार में मददगार भी साबित हुआ।

हिंदी में उपन्यास लेखन की परंपरा को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है; पहला, शुरुआती लेखन जिसे प्रेमचंद पूर्व काल भी कह सकते हैं; दूसरा, प्रेमचंद युग एवं तीसरा, प्रेमचंदोत्तर क़ालीन उपन्यास।

प्रेमचंद पूर्व युग:

प्रेमचंद पूर्व युग सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था। मोटे तौर पर उपन्यास या गद्य विधा की व्यवस्थित शुरुआत 1857 (प्रथम स्वतंत्रता संघर्ष) से लेकर कांग्रेस की स्थापना (1885) तक का समय है। यह भारतीय इतिहास के लिए काफी महत्वपूर्ण समय है साथ

ही संक्रमणकालीन समय भी। एक तरफ सामाजिक, धार्मिक सुधारों के रूप में आर्य समाज, तत्वबोधिनी समाज आदि संस्था का निर्माण तो दूसरी तरफ कांग्रेस के उदारवादी चरण की विचारधाराएं। इन दोनों का ही प्रभाव शुरुआत के भारतीय भाषाओं के उपन्यास पर भी देखा जा सकता है। दरअसल इस समय के रचनाकार एक लेखक और विचारक के साथ साथ एक शोधार्थी भी थे। भारतीय समाज को एक दिशा देने का कार्य यह कहीं न कहीं अपने लेखन के माध्यम से करने का प्रयास कर रहे थे।

(क) उपदेश प्रधान सामाजिक उपन्यास

लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी, लज्जाराम मेहता आदि ऐसे ही रचनाकार थे। यह एक उलझा हुआ सवाल है की हिंदी की मौलिक उपन्यासों की विकास यात्रा पंडित गौरीदत्त के 'देवरानी-जेठानी की कहानी' (1870) से शुरू होती है या श्रद्धा राम फिल्लौरी के 'भाग्यवती' (1877) से या लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' (1882) से। "देवरानी-जेठानी की कहानी की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इस में पहली बार परंपरा से हटकर कथा कहने का प्रयास किया गया है। कथाकार ने पुराने आख्यान लेखकों की तरह किसी राजा, सेठ, सामंत, शूरवीर की कथा न कहकर साधारण मध्यवर्गीय वैश्य परिवार की देवरानी-जेठानी की कहानी कही है।"[24] यह महज स्त्री शिक्षा की कहानी नहीं है वरन यह 19वीं शताब्दी के मध्यवर्गीय बनिया समाज के जीवन का यथार्थ चित्रण भी है। फिल्लौरी जी की 'भाग्यवती' में भी हिंदू समाज की

[24] गोपाल राय, *हिंदी उपन्यास का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ. 24

बुराइयां जैसे बाल-विवाह, शादी विवाह के अवसर पर अपव्यय, लड़कियों को शिक्षा न देना, आदि और अंधविश्वास जैसी कुरीतियों पर लिखा गया है।

'परीक्षा गुरु' में औपन्यासिक कच्चेपन के बावजूद उपन्यास की संरचना एवं कथा विन्यास का विश्वसनीय ढांचा है। इसलिए इसे हिंदी उपन्यास का पहला रचनात्मक प्रयास तो माना ही जा सकता है। इस उपन्यास में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्य वर्ग की बुराइयों से जकड़े हुए और अंग्रेजो की नकल करने वाले मध्यवर्गीय व्यापारी का बुरी संगत से पतन दिखाया गया है। "'परीक्षा गुरु' हिंदी का पहला उपन्यास है जिसमें अंग्रेज बनियों के चरित्र की पोल खोली गई है। इससे अंग्रेजी शासन के प्रति उपन्यासकार की आलोचनात्मक दृष्टि का पता चलता है, यद्यपि वह स्पष्ट रूप से कहीं भी ब्रिटिश शासन की आलोचना नहीं करता।"[25]

हिंदी में इस समय (उन्नीसवीं सदी) के महत्वपूर्ण उपन्यास सामाजिक सुधार के मुद्दे से जुड़े थे। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान'; राधा चरण गोस्वामी: 'विधवा विपत्ति'; पंडित लज्जाराम शर्मा: 'आदर्श दंपति'; राधाकृष्णदास: 'निस्सहाय हिंदू'; ठाकुर जगमोहन सिंह: 'श्यामा स्वप्न', आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। इस तरह इस समय की अधिकांश रचनाएं सामाजिक, धार्मिक कुरीतियों को समाप्त करने की दृष्टि से लिखी गई है। इसलिए यहां स्त्री समस्या से जुड़े सवाल भी केंद्र में

[25] वही, पृ. 54

रहे हैं और नैतिकता से जुड़े सवाल भी। भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। धार्मिक रूढ़ियों से जकड़ी महिलाओं को अपनी शोचनीय स्थिति का अंदाजा ही नहीं था। उन्हें लगता था कि उनका जन्म दुख भोगने के लिए ही हुआ है।

(ख) शुद्ध मनोरंजनात्मक, तिलस्मी, ऐयारी एवं जासूसी उपन्यास

पूर्व प्रेमचंद युगीन उपन्यास की एक अन्य प्रवृत्ति थी तिलिस्मी, ऐयारी, मनोरंजनात्मक एवं जासूसी प्रधान उपन्यास की रचना करना। देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपाल राम गहमरी आदि रचनाकार इस धारा के प्रमुख रचनाकार हैं। देवकीनंदन खत्री की 'चंद्रकांता' (1891), 'चंद्रकांता संतति' (1894-1905), किशोरीलाल गोस्वामी 'भयानक खून', गोपाल राम गहमरी की 'गुप्तचर' (1899), 'सिर कटी लाश' (1900), 'जमुना का खून' (1901), 'चक्करदार खून' (1915) आदि है।

हिंदी भाषा और नागरी लिपि को लोकप्रिय बनाने में और हिंदी उपन्यास का पाठक वर्ग उत्पन्न करने में भी इन उपन्यासों का महत्व उल्लेखनीय है। इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य कौतूहल और जिज्ञासा पैदा कर मनोरंजन करना है। "'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' का महत्व एक ओर यदि उसकी असाधारण कल्पना शक्ति में निहित है तो दूसरी ओर रहस्य को सुरक्षित रखने वाले कथा संगठन में। उत्सुकता को बढ़ाने के लिए लेखक अपने कथा-सूत्र को चरम तक ले जाकर अधूरा छोड़ कर फिर दूसरा सूत्र उठा लेता है।

कितने ही पृष्ठों के बाद, कभी-कभी तो पूरा एक खंड समाप्त हो जाने के बाद, उस छुटे हुए सूत्र को पुनः उठा कर आगे बढ़ता है।"[26]

किशोरीलाल गोस्वामी को जासूसी उपन्यासकार से ज्यादा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा मिली। गोपाल राम गहमरी के जासूसी उपन्यासों का उद्देश्य भी पाठक वर्ग का मनोरंजन ही था। इनके उपन्यास अंग्रेजी के जासूसी उपन्यास से भी प्रभावित थे। "इन उपन्यासों का मुख्य आकर्षण अपराधी की पहचान को अंत तक सुरक्षित रखते हुए पाठकों के कौतूहल को बनाए रखना था। उपन्यास के अंतिम पृष्ठों में जब वास्तविक अपराधी का पता चलता था तो पाठक विस्मय में और आनंद में डूब जाता था। लेखक की सबसे बड़ी सफलता यह होती थी की पाठक सामान्यतः जिस व्यक्ति पर शक करता था वास्तविक अपराधी उससे भिन्न निकलता था यही वस्तुतः उसके विस्मय और कौतूहल का कारण भी होता था।"[27]

इन उपन्यासकारों ने यथार्थ से ज्यादा फंतासी तत्वों और रूमानियत पर फोकस किया लेकिन हिंदी उपन्यासों को लोकप्रिय बनाने और उसे प्रसिद्धि दिलाने में अपना अमूल्य योगदान दिया।

(ग़) ऐतिहासिक उपन्यास

प्रेमचंद पूर्व युग की एक और प्रवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना से जुड़ी हुई है। कथा-साहित्य के लेखन में ऐतिहासिकता शुरू से ही रचनाकारों को आकृष्ट करती रही है।

---

[26] मधुरेश, *हिंदी उपन्यास का विकास*, सुमित प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 2008, पृ, 23-24

[27] वही, पृ, 29-30

अतीत के प्रति मोह, ऐतिहासिक पात्र, घटनाएं आदि रचनाकार को वह कथा भूमि मुहैया कराती रही है जिस पर उनकी रचनाओं का आधार है।

बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी, वृंदावनलाल वर्मा आदि इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' भी ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास में भारत में अंग्रेजी राज्य के शुरुआती दौर का चित्रण है और पिंडारियों के लूटमार से देश में फैली अशांति और अराजकता को चित्रित किया गया है। इस काल में किशोरीलाल गोस्वामी को ऐतिहासिक उपन्यास का जनक माना जा सकता है। "उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों में 'प्रणयिनी-परिणय' (1890), 'हृदय हारिणी व आदर्श रमणी' (1890) 'लवंग लता व आदर्श वाला' (1890) 'तारा वा क्षात्रकुल कमलीनी' (1902) 'सुल्ताना रजिया बेगम व रंगमहल में हलाहल' (1904) 'सोना और सुगंध व पन्ना बाई' (1911) 'लखनऊ की कब्र व शाही महल' (1917) और 'अंगूठी का नगीना' (1918) आदि मुख्य रूप से उल्लेखनीय है।"[28]

प्रेमचंद युग

पूर्व प्रेमचंद युग में चल रही सामाजिक, ऐतिहासिक और तिलस्मी ऐयारी कथा जाल से निकलकर प्रेमचंद युग में रचनाएं सामाजिक संदर्भों से ज्यादा जुड़ गई। प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में मनोरंजन, कौतूहल और घटना वैचित्रय से ज्यादा सामाजिक समस्याओं

[28] वही, पृ. 27

को अपनी कथा का आधार बनाया। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं को यथार्थ से जोड़ा। हालांकि इन का यथार्थ एक क्रमिक विकास के रूप में है इसलिए यह आदर्शवाद से यथार्थ की ओर बढ़ा और प्रेमचंद की शुरुआती रचनाओं की तुलना में अंत तक आते-आते ठोस यथार्थवादी रूप में परिणत हो गया। इसे प्रेमचंद के प्रारंभिक उपन्यास 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक की यात्रा के रूप में देखा जा सकता है।

(क) सामाजिक उपन्यास

प्रेमचंद ने भारतेंदु युग में चल रहे समाज सुधार और ब्रिटिश विरोधी स्वाधीनता संघर्ष को ही आगे बढ़ाया। लेकिन उसे सिर्फ शिक्षा, उपदेश और मनोरंजन तक सीमित नहीं रहने दिया बल्कि उसे एक व्यापक आधार दिया। भारतेंदु युग के अधिकांश रचनाकार ब्रिटिशों के मूल स्वरूप को समझने का प्रयास कर रहे थे। इसलिए कभी वे उन्हें उद्धारक के रूप में देखते थे तो कभी वह उनकी आलोचना करते थे। इस प्रकार स्त्रियों की दशा और परिवार में उनकी स्थिति पर पूर्व प्रेमचंद युग में विचार होने शुरु हो चुके थे। परंतु प्रेमचंद ने पुरानी सांस्कृतिक परंपरा को ध्वस्त करते हुए तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति को चित्रित किया। भारतीय समाज सनातन समाज है जो बहुत पुराना और गहरा है। जितना यह समाज पुरातन है उतनी ही कुरीतियां भी गहरे रूप में विद्यमान थी। समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। अनमेल विवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा, विधवा की स्थिति तो बुरी थी ही स्त्री शिक्षा भी नगण्य थी। स्त्रियों को स्वयं ही अपनी स्थिति का ध्यान नहीं था और यही कारण है कि प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में स्त्री की स्थिति की पड़ताल भी की गई है और उसे पहचान भी देने की कोशिश की गई है ।

प्रेमचंद ने सामाजिक यथार्थ के चित्रण के साथ-साथ मध्यवर्ग, जमींदार, पूंजीपति, किसान, मजदूर, अछूत और समाज से बहिष्कृत व्यक्तियों के जीवन को संचालित करने वाले तत्वों की तलाश की। "प्रेमचंद यदि महान है तो इसलिए कि उन्होंने किसानों के मानसिक गठन और मध्यवर्ग के दृष्टिकोण को उस समय गंभीर विश्वास और उत्साह के साथ वाणी दी जिस समय इस देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे थे। उनके ग्रंथों में आर्थिक शोषण और सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध कृषक वर्ग की पुंजीभूत घृणा और कटुता की झलक मिलती है। उनमें उस पूंजीवाद या पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध निम्न मध्य वर्ग के विरोध और घृणा के भी दर्शन होते हैं जो ग्राम में जीवन की पुरातन व्यवस्था को धवन और नष्ट-भ्रष्ट करने का उत्तरदाई है।"[29]

प्रेमचंद के पहले उपन्यास के नाम को लेकर मतभेद है। "किसी ने प्रतापचंद दिया था किसी ने हमखुर्मा वह हमसबाब किसी ने किशना। हैदराबाद के हिसामुद्दीन गौरी ने 1936 में श्रद्धांजलि देते हुए कहा था प्रेमचंद का पहला उपन्यास असरारे मोहब्बत था। मुझे याद नहीं कि मैंने इसी उपन्यास के नाम को क्यों स्वीकारा और अपनी पुस्तक में इसका जिक्र किया। प्रेमचंद की किताबों की सूची में भी। डॉ इंद्रनाथ मदान तथा अन्य शोधकर्ताओं ने इसी नाम को उद्धृत किया।"[30] इससे पूर्व उर्दू में प्रेमचंद की उपन्यास

---

[29] डॉक्टर इंद्रनाथ मदान, *प्रेमचंद*, डॉ. इंद्रनाथ मदान, *प्रेमचंद: एक विवेचन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, आमुख

[30] मदन गोपाल, *कलम का मजदूर: प्रेमचंद*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ. ii

हमखुर्मा वह हमसबाब प्रकाशित हो चुका था। "हमखुर्मा वह हमसबाब का हिंदी रूप प्रेमा इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ।"[31]

यह सर्वविदित है कि प्रेमचंद की प्रारंभिक रचनाएं उर्दू में ही है। हिंदी में मिली प्रसिद्धि ने उन्हें उर्दू से हिंदी की ओर उन्मुख होने के लिए बाध्य किया। यही नहीं कई उपन्यासों की रूपरेखा व अंग्रेजी में भी लिखते थे इस प्रकार इस उपन्यास सम्राट का कई भाषाओं पर अधिकार था।

हिंदी में प्रेमचंद का पहला उपन्यास 'सेवासदन' (1918) है। यह उर्दू में बाजार ए हुस्न के नाम से छप चुका था। डॉ रामविलास शर्मा के अनुसार "सेवासदन की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। प्रेमचंद ने किस तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परंपराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निष्ठुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।"[32]

"प्रेमचंद ने विस्तार से दिखलाया है कि इस समाज व्यवस्था में संपत्ति के रक्षक सदाचार की आड़ में वेश्यावृत्ति को प्रश्रय ही नहीं देते, वेश्याओं को जन्म भी देते हैं। प्रेमचंद ने सामाजिक संबंधों की छानबीन कितनी गहराई से की है, यह इसी से जाहिर होता है कि उन्होंने वेश्यावृत्ति की मूल प्रेरक शक्तियों को कटघरे में खड़ा कर दिया है, जहां से उपन्यासकार और पाठकों की नजर बचाकर भाग जाना उनके लिए संभव नहीं है। दहेज, अनमेल विवाह, पति का संदेश, घर से निकालना और वेश्या की देहरी। मानो

---

[31] वही, iii

[32] डॉ. रामविलास शर्मा, *प्रेमचंद और उनका युग,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 31

विवाह प्रथा और वेश्यावृत्ति में कोई अन्योन्याश्रय संबंधों की एक होगी तो दूसरी होगी ही। और जिस समाज में विवाह का मतलब कन्या बिक रहे हो उससे वेश्यावृत्ति कौन उठा उठा सका है?"[33]

'सेवासदन' का प्रकाशन राजनीति में किसान आंदोलन के साथ साथ गांधी के भी प्रवेश का काल था। प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में नारी मुक्ति एवं सांप्रदायिकता की समस्या को तो उठाया ही साथ ही महंत के सामने नहीं झुकने वाले किसान चैतू का बलिदान दिखाकर यह संकेत भी दे दिया कि उनकी आगे आने वाली रचनाओं में किसान और मजदूर रचना के केंद्र में आने वाले हैं।

'प्रेमाश्रम' (1922)

डॉ रामविलास शर्मा के अनुसार 'प्रेमाश्रम' किसान जीवन का महाकाव्य है। "प्रेमचंद ने बेकार करने वाले, हल जोतने वाले, प्लेग़ और सरकार का मुकाबला करने वाले किसानों को नायक बना दिया। मनोहर, बलराज, कादिर, दुखरन आदि इस उपन्यास के हीरो है। यह नए तरह के नायक हैं- गुण और अवगुण, दोनों से विभूषित। इनकी कहानी का आरंभ किसी रमणी की आंख लड़ जाने से नहीं होता और ना उस कहानी का अंत नायक नायिका के विवाह से होता है। लखनपुर का गांव- संक्षेप में उपन्यास का नायक है; ज्ञानशंकर, गौस खान, कचहरी कानून और पुलिस किस जमात खलनायक है।"[34]

---

[33] वही, पृ. 36-37

[34] वही, पृ. 45

'रंगभूमि' (1925)

इस उपन्यास का मुख्य पात्र सूरदास है जिस पर गांधी का प्रभाव स्पष्ट ही देखा जा सकता है। सूरदास भारतीय ग्रामीण संस्कारों का प्रतिनिधि चरित्र है। वह जीवन पर्यंत किसान की नैतिक संस्कारों को बचाने की लड़ाई लड़ता है परंतु फैक्टरी को खुलने से रोक नहीं पाता है। प्रेमचंद यह दिखलाना चाहते हैं कि उद्योग धंधे के विस्तार को रोका नहीं जा सकता। "'रंगभूमि' में प्रेमचंद पहली बार भारतीय समाज के अनेक वर्गों और स्तरों का इतना सघन चित्र प्रस्तुत करते हैं। सामंतवाद, औद्योगिक पूंजीवाद, नेता, बुद्धिजीवी, प्रशासन तंत्र और भारत की उत्पीड़ित जनता को प्रेमचंद यहां प्रस्तुत करते हैं।"[35]

'निर्मला' (1927)

'निर्मला' उपन्यास के रूप में अपने प्रकाशन से पूर्व धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हो चुका था। इस उपन्यास में भी मध्यवर्ग, दहेज और अनमेल विवाह की कहानी है। **'प्रतिज्ञा' (1929)** में भी दहेज और विधवा विवाह की मार्मिक और तल्ख रूप को प्रस्तुत किया गया है। **'ग़बन' (1931)** इस उपन्यास को मध्य वर्गीय आर्थिक स्थिति से जोड़कर देखा जा सकता है। जालपा की आभूषण प्रियता उसके जीवन की त्रासदी बन जाती है।

'गोदान' (1936)

गोदान प्रेमचंद की घोर यथार्थवादी रचना है। डॉ रामविलास शर्मा के शब्दों में "गोदान में किसानों के शोषण का रुप ही दूसरा है। यहां सीधे-सीधे राय साहब के कारिंदे होरी का

[35] मधुरेश, *हिंदी उपन्यास का विकास*, सुमित प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 2008, पृ, 40

घर लूटने नहीं पहुंचते। लेकिन उसका घर लुट जरूर जाता है। ना यहां अंग्रेजी राज के कचहरी-कानून सीधे-सीधे उसकी जमीन छीनने नहीं पहुंचते। लेकिन जमीन छीन जरूर जाती है।"[36]

यह प्रेमचंद की अंतिम और क्लासिक रचना है। प्रेमचंद ने अपने जीवन के सारे अनुभव और मोह भंग का निचोड़ इन इस उपन्यास में डाल दिया है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में सामंतवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और समाजवाद सभी के गठजोड़ की पूरी पोल खोल दी है।

प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद एवं सामाजिक यथार्थ के पैरोकार थे। प्रेमचंद के समानांतर इस युग में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' जैसे रचनाकार भी सामाजिक मुद्दों पर लिख रहे थे। प्रसाद को पुनरुत्थानवादी रचनाकार और अतीत के गुणगान वाले रचनाकार के रूप में प्रचारित किया जाता रहा है। परंतु 'कंकाल' (1929) और 'तितली' सामाजिक दृष्टिकोण से महत्व रखने वाली रचना है। 'कंकाल' उपन्यास में धर्म की आड़ में होने वाले कुकृत्यों का चित्रण कर मानवता को प्रतिष्ठित किया गया है। 'तितली' (1934) में उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को निरूपित किया है।

---

[36] डॉ. रामविलास शर्मा, *प्रेमचंद और उनका युग*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 97

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक की 'मां' (1929) और 'भिखारिणी' (1929) लगभग एक साथ प्रकाशित हुई। 'मां' उपन्यास के केंद्र में दोनों की तुलना की गई है एक मां जिसने पैदा किया है और एक मां है पालने वाली। इन दोनों के बीच के द्वंद्व के साथ-साथ तत्कालीन समाज की कुरीतियों का नग्न और साहसपूर्ण चित्रण कौशिक जी ने इस उपन्यास में किया है। 'भिखारिणी' भी सामाजिक समस्याओं का ही चित्रण है। यह प्रेम कथा है जो नाटकीयता के साथ आगे बढ़ती है।

निराला स्वभाव से कवि थे पर इस काल में उनकी कुछ सामाजिक रचनाएं आई जैसे 'अप्सरा' (1931), 'अलका' (1933), 'निरुपमा' (1936) और 'प्रभावती' (1936) आदि। इसके अतिरिक्त 'कुल्ली भाट एवं बिल्लेसुर बकरी' हमें गांव के किसान या मजदूर का जीवन तथा यथार्थ रोमांटिकता काल्पनिकता को तोड़कर बाहर निकलता है।

'अप्सरा' में निराला ने एक कुलीन युवक तथा वेश्या पुत्री के प्रेम और विवाह का चित्रण किया है। 'अलका' में अवध क्षेत्र के किसानों की अभावग्रस्त दयनीय एवं नारकीय जिंदगी को चित्रित किया गया है।

बेचन शर्मा उग्र की 'चंद हसीनों के खतूत' (1927), 'दिल्ली का दलाल' (1927), 'बुधुआ की बेटी' (1928), 'शराबी' (1930) आदि इसी काल की रचनाएं हैं। "उन्होंने अपने उपन्यासों में शराबियों, वेश्याओं दलितों आदि से जुड़े नग्न यथार्थ को प्रायः बेलौस और अखबारी भाषा में प्रस्तुत किया, जिसके चलते 'विशाल भारत' के संपादक पंडित

बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके उपन्यासों को 'घासलेटी' करार देते हुए उनके विरुद्ध एक जबरदस्त आंदोलन ही छेड़ दिया था।"[37]

इस युग में एक अन्य उपन्यासकार गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' के 'संदेह' (1925), 'प्रेम की पीड़ा' (1930), 'अरुणोदय' (1930), 'पाप की पहेली' (1931) तथा अंतिम उपन्यास ' प्रोफेसर' (1946) इत्यादि में भी समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति मिलती है। इसके अतिरिक्त ऋषभ चरण जैन तथा शिवपूजन सहाय के उपन्यास में सामाजिक संवेदना पर आधारित हैं। जैन जी ने ' दिल्ली के व्यभिचार' (1928), ' वेश्या पुत्र' (1929), 'मास्टर साहब' (1929), 'दिल्ली का कलंक' (1936) उपन्यास लिखे तो शिवपूजन सहाय ने 'देहाती दुनिया' (1926) में गाँव को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया।

(ख) ऐतिहासिक उपन्यास

पूर्व प्रेमचंद युग में प्रारंभ हुई ऐतिहासिक उपन्यास लेखन की धारा प्रेमचंद युग में भी अनवरत चलती रही। सही मायने में ऐतिहासिक उपन्यास की शुरुआत इस काल में वृंदावन लाल वर्मा द्वारा की गई। वर्मा जी ने पूर्व प्रेमचंद युग की अपेक्षा परिष्कृत रूप में ऐतिहासिक उपन्यास की शुरुआत की जो प्रेमचंदोत्तर काल में ज्यादा परिपक्व रूप में उभरकर आई। 'गढ़ कुंडार' (1927), 'विराटा की पद्मिनी' (1936) इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास है। "'गढ़ कुंडार' (1927) हिंदी का पहला ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। इसमें तत्कालीन सामंती जीवन की विकृतियों- युद्धों की लक्ष्य हीनता,

---

[37] गोपाल राय, *हिंदी उपन्यास का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ 145

नित्या जातीय दर्प, राष्ट्रीयता का अभाव- का चित्रण हुआ है।' विराटा की पद्मिनी' अत्यंत रोचक ऐतिहासिक रोमांस है। इसमें सामंती कुचक्रों और दांव-पेंच के बीच प्रेम की बलिदान गाथा का अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। इसमें सामंती जीवन की दो मुख्य प्रवृत्तियों- युद्ध और प्रेम- का भव्य चित्रण हुआ है।"[38]

इसके अतिरिक्त चंडीप्रसाद हृदयेश, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, ऋषभ चरण जैन, सियारामशरण गुप्त, राधिकारमण प्रसाद सिंह, आदि इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार है।

(ग़) मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मनोविज्ञान बाह्य के दबाव से पैदा होने वाला मनोभाव है। प्रेमचंद के यहां मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और सामाजिक यथार्थवाद एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उनकी रचनाओं में मनोविज्ञान सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाला एक उपकरण है। जबकि प्रेमचंद के समानांतर ही रचना कर रहे जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय में मनोविज्ञान व्यक्ति के अंतर्मन की गहराइयों को थाहने के लिए अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए यहां मनोविज्ञान मनोविज्ञान से ज्यादा मनोविश्लेषणवाद का रूप लेने लगा। अतः यहां सामान्य से ज्यादा विशेष को महत्व दिया जाने लगा। जैनेंद्र के उपन्यास 'परख' (1929), 'सुनीता' (1935) एवं 'त्यागपत्र' (1937) ऐसी ही रचना है। जैनेंद्र प्रेमचंद के समानांतर ही अपनी रचना यात्रा की शुरूआत कर चुके थे और दोनों पर

[38] डॉ. बच्चन सिंह, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 383

गांधीवादी नैतिकता और आदर्श का प्रभाव भी है परंतु दोनों का कथा विन्यास भिन्न है। प्रेमचंद में लगभग सभी वर्गों के पात्र हैं पर जैनेंद्र की रचनाओं में विशेषकर स्त्रियों में अपेक्षाकृत संभ्रांत परिवार की स्त्रियां या यूँ कहे कि मध्यवर्गीय बौद्धिक मंथन करने वाली स्त्रियों को प्राथमिकता दी गई है। जैनेंद्र के ज्यादातर उपन्यास स्त्री केंद्रित हैं और स्त्री यहां सिर्फ बाह्य घटनाओं से प्रभावित नहीं होती। वह अपने अस्तित्व को तलाशती है इसलिए वह सोचती है। 'त्यागपत्र' की मृणाल कहती है कि "विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यूं टले टल सकता है? वहगांठ है जो बंधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाए, लेकिन टूटना कब किसका श्रेयस्कर है।"[39]

जैनेंद्र की रचनाओं में स्त्री सिर्फ बने-बनाए पारंपरिक मानदंडों पर नहीं चलती बल्कि वह उन मान्यताओं को ध्वस्त कर अपने लिए रास्ता तलाशती है और सवाल खड़े करती है। वह देवी बनकर सिर्फ त्याग और समर्पण को अपना अभीष्ट नहीं समझती बल्कि एक मनुष्य की तरह अपने हक और अधिकार को मांगती प्रतीत होती है। यह अधिकार सिर्फ आर्थिक मुक्ति नहीं है क्योंकि सिर्फ आर्थिक मुक्ति से किसी स्त्री की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। विजय मोहन सिंह 'नई नारी: नई नैतिकता' शीर्षक लेख में यही सवाल उठाते हैं- "वैसे तो 'गोदान' की मालती भी आर्थिक रुप से मुक्त है और एक सीमा तक प्रसाद जी की 'तितली' भी, लेकिन प्रेमचंद के लिए मालती ' ऊपर से तितली है भीतर से मधुमक्खी'। लेकिन संभवता जैनेंद्र जी के लिए यह मुक्ति उस तथाकथित मुक्त स्त्री के लिए आसान सिद्ध नहीं होती, क्योंकि तथाकथित आधुनिक पुरुष इस मुक्ति का समर्थक

[39] विजय मोहन सिंह, *कथा समय,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2002, पृ. 81

होते हुए भी इससे मुक्त रुप से स्वीकार नहीं कर पाता। जैनेंद्र जी के लिए स्त्री की आर्थिक मुक्ति समस्या का समाधान नहीं, समस्या की शुरुआत है। इस आर्थिक मुक्ति ने स्त्री को नए प्रकार के सामाजिक तथा आर्थिक द्वंदों में उलझा दिया है, जिन्हें वह पुनः मृणाल की तरह ही अपने अस्तित्व की कीमत पर ही सुलझा पाती है। इस द्वंद्व को कल्याणी पुनः अपने उपन्यास के साक्षी पात्र वकील साहब के सामने समय-समय पर व्यक्त करती है: ' सब व्यर्थ है, सब फिजूल है, कविता फिजूल है। क्या उनमें कोई अर्थ है।"[40]

"हिंदी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास अनेक नए प्रयोगों की भूमि भी रहा है। जैनेंद्र कुमार के साथ ही, 'परख' के ही प्रकाशन वर्ष में, इलाचंद्र जोशी अपने 'घृणामयी' के साथ अपनी उपस्थिति जताते हैं। इसी क्रम में, लगभग एक दशक बाद, अज्ञेय 'शेखर: एक जीवनी" का पहला खंड लेकर आते हैं। भगवतीचरण वर्मा ने आगे चलकर भले ही सामाजिक यथार्थ और राजनीतिक घटना प्रसंगों वाले उपन्यास लिखें, लेकिन उनका चित्रलेखा 1934 दो मूल्य दृष्टियों के टकराव का एक उल्लेखनीय उदाहरण है।"[41]

"मनोवैज्ञानिक और प्रयोगशील उपन्यासकारों की इसी धारा में आगे चलकर देवराज, धर्मवीर भारती, भारत भूषण अग्रवाल, गिरधर गोपाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, प्रभाकर माचवे और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि जुड़ते हैं।"[42]

---

[40] वही, 84

[41] मधुरेश, *हिंदी उपन्यास का विकास*, सुमित प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 2008, पृ 69

[42] वही, पृ, 69

इनके अतिरिक्त प्रेमचंद के 'गबन', 'गोदान' आदि उपन्यास तथा प्रसाद के 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती' आदि मनोवैज्ञानिक धरातल पर रचे गए उपन्यास ही हैं।

प्रेमचंदोत्तर युग

(क) सामाजिक उपन्यास

इस युग में सामाजिक उपन्यासकारों में भगवती चरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, विष्णु प्रभाकर तथा अमृतलाल नागर प्रमुख हैं। भगवती चरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'चित्रलेखा' (1936), 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (1946), 'भूले बिसरे चित्र' (1959), 'रेखा' (1964) 'सामर्थ्य और सीमा' (1962), 'सबहिं नचावत राम गुसाँई' (1970) आदि है। वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में सामाजिक सवाल के साथ-साथ मुख्य रूप से नियतिवाद को प्रश्रय दिया है। अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास 'बूंद और समुद्र' जो उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास भी है में 'बूंद' व्यक्ति का प्रतीक है और 'समुद्र' समाज का। इसमें लेखक ने संयुक्त परिवार की टूट, बाढ़ समस्या, बेकारी, राष्ट्रीयता की भावना को उठाया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'मानस का हंस', 'खंजन नयन', 'शतरंज के मोहरे', आदि उपन्यास भी लिखे। चतुरसेन शास्त्री के 'धर्मयुग', 'खग्रास', 'गोली' आदि सामाजिक दृष्टिकोण से उल्लेखनीय है। 'धर्मयुग' हिंदू-मुस्लिम एकता की समस्या पर आधारित है। इसके अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर के उपन्यास 'आवारा मसीहा', 'ढलती रात' (1951), 'निशिकांत', 'तट के बंधन' (1955) आदि प्रमुख उपन्यास है। प्रभाकर जी ने सामाजिक

समस्या के रूप में मुख्य रूप से स्त्री से जुड़ी समस्याएं और उसमें भी हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समाज में स्त्री की स्थिति को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

(ख) मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास

प्रेमचंद के समय शुरू हुई मनोविज्ञान की धारा आगे चलकर पाश्चात्य प्रभाव और भारतीय सामाजिक परिवर्तन से लैस होकर मनोविश्लेषण का रूप धारण करने लगी। फलतःयहां समाज की अपेक्षा व्यक्ति केंद्र में आने लगा और उसके मनोभावों, द्वंद्वों, को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया में अवचेतन मन की प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति मिली।

जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय एवं डॉ देवराज की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित है। जैनेंद्र अपनी रचनात्मकता के नए कलेवर मनोवैज्ञानिक/ व्यक्तिवादी उपन्यासकार के रूप में स्थापित हो चुके थे। उनके उपन्यास 'त्यागपत्र' (1937), 'कल्याणी' (1939) में 'सुखदा' (1952) 'विवर्त' (1952) 'व्यतीत' (1953) 'जयवर्धन' (1956) आदि प्रकाशित हुआ। जैनेंद्र ने उपन्यासों को एक नई कथा भाषा दी। इनके उपन्यास 'कल्याणी' में कल्याणी आधुनिक नारी की प्रतिनिधि पात्र है। लेखक ने कल्याणी के माध्यम से एक ऐसी स्त्री पात्र को गढ़ा है जो हर तरह योग्य है, सुंदर है, सुशील है, पढ़ी लिखी है, गरीबों के प्रति स्नेहशील फिर भी उसका पति हर तरह से शोषण भी करता है उसे मानसिक एवं शारीरिक यातनाएं भी देता है। कल्याणी अंततः विक्षिप्त हो जाती है। जैनेंद्र ने यहाँ कल्याणी के माध्यम से स्त्री मन की गहराइयों को उजागर करने की कोशिश की है। "जैनेंद्र जी हिंदी में प्रेम की जटिल और सूक्ष्म प्रक्रिया का विश्लेषण करने वाले पहले

उपन्यासकार हैं। फ्रेंच उपन्यासकार स्थेंढल इसे 'क्रिस्टलआई सेशन ऑफ़ लव' कहते हैं। मानसिक स्तर पर दो व्यक्तियों के बीच प्रेम जिस विस्फोट की सृष्टि करता है, उसे जैनेंद्र ने बड़ी फुर्सत से अंकित किया है। प्रेम को लेकर इतनी फुर्सत जैनेंद्र जी से पूर्व किसी अन्य उपन्यास कार्य को नहीं रही है। लेकिन इन प्रश्नों को लेकर जैनेंद्र जी मौलिक प्रश्नों की ओर जाते हैं। वह केवल नहीं थी क्या नैतिकता का प्रश्न नहीं रह जाता है।"[43]

इलाचंद्र जोशी को हिंदी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पुरस्कर्ता माना जा सकता है। इस काल के इन के प्रमुख उपन्यास 'सन्यासी' (1941) 'प्रेत और छाया' (1945), 'जिप्सी' (1952) 'जहाज का पंछी' (1955) आदि है। इन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक प्रश्नों की तुलना में मनोवैज्ञानिक स्थितियों को अधिक महत्व दिया है। "जोशी जी के स्वतंत्रता पूर्व उपन्यासों में मानसिक विकारों, मनोग्रंथियों, कुंठाओं और मनोरोगों के शिकार और सामान्य पात्रों का चित्रण प्रमुखता के साथ हुआ है। इन उपन्यासों के पात्रों के चरित्र और कार्य व्यापार फ्रायड, जुंग आदि मनोविश्लेषण शास्त्रियों के सिद्धांतों पर आधारित हैं और अनेकत्र ये सिद्धांत आरोपित से प्रतीत होते हैं। जोशी जी के औपन्यासिक पात्र न केवल समाज निरपेक्ष हैं, वरन समाज विरोधी भी हैं। यदि कहीं उन्हें किसी आदर्श से प्रेरित दिखाया भी गया है तो वह आरोपित सा है।"[44]

---

[43] विजय मोहन सिंह, *कथा समय*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2002, पृ. 89

[44] गोपाल राय, *हिंदी उपन्यास का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ 199

अज्ञेय की 'शेखर: एक जीवनी' का पहला भाग 1940 में और दूसरा भाग 1944 में प्रकाशित हुआ था। अज्ञेय अपनी पहली रचना से ही प्रेमचंद और जैनेंद्र सदृश्य रचनाकार के समानांतर स्थापित हो चुके थे। आजादी के बाद आगे के दो अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास 'नदी के द्वीप' (1951) और 'अपने अपने अजनबी' (1961) का प्रकाशन हुआ। अपने समकालीन रचनाकारों की तुलना में अज्ञेय अपनी रचनाओं में ज्यादा स्वाभाविक कथा विन्यास और स्थितियों का चयन करते हैं। अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक तकनीक अनुभूति और विचार के संश्लेष, गद्य-पद्य मिश्रित भाषा, उनके उपन्यास को सौंदर्य मूलक विशिष्टता प्रदान करती है।

अज्ञेय की 'शेखर: एक जीवनी' में कई पात्र मौजूद हैं परंतु अज्ञेय ने शेखर के पूरे व्यक्तित्व का विकास जिन स्तरों पर किया है वह उल्लेखनीय है। "शेखर के चरित्र का नियामक उसका परिवेश ही है, पर अज्ञेय उसके चरित्र निर्माण के भीतरी कारणों, मनोवैज्ञानिक और संवेदनात्मक पक्षों की पड़ताल और व्याख्या को ही अपनी रचनाशीलता का मुख्य दायित्व मानते हैं। अज्ञेय ने शेखर की चरित रचना में अपने समय तक उपलब्ध मनो वैज्ञानिक खोजों की पूरी सहायता ली है। बाल, वय:-संधि औरकिशोर मन के मनोवैज्ञानिक अंकन का यह अभूतपूर्व प्रयास है।"[45]

'नदी के द्वीप' और 'अपने अपने अजनबी' अपने औपन्यासिक शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'नदी के द्वीप' त्रिकोणीय प्रेम का एक बेहतरीन उदाहरण है जहां प्रेम सिर्फ कुंठा,

[45] गोपाल राय, *हिंदी उपन्यास का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ 178

आशंका या अवसाद की परिणति नहीं है। इस उपन्यास की नायिका रेखा "अपनी भावना के प्रति वह पूरी तरह से ईमानदार, उन्मुक्त और समर्पित है। वह क्षणों में, क्षण से क्षण तक, जीती है, क्षण के प्रति समर्पित है, क्षण को ही विराट मानती है। पर वह अस्तित्ववादी नहीं है। रेखा न तो जीवन की परिस्थितियों से हारकर अपने को वर्तमान के आगे डाल देती है, न भविष्य की निराशा से इतनी डर और दब जाती है कि उसे जीवन में कोई राह ही न दिखाई दे। उसका दांपत्य जीवन असफलता, अपमान और प्रताड़ना से ग्रस्त है पर दुख उसे मांजता ही है, कुंठित नहीं करता, न उसे जीवन के प्रति अनास्थावन बनाता है। 'वेदना में एक शक्ति होती है, जो दृष्टि देती है'- अज्ञेय का यह दर्शन रेखा के जीवन में पूर्णत: प्रतिफलित है।"[46] 'अपने अपने अजनबी' में आधुनिक सभ्यता के दबाव में एक व्यक्ति दूसरे के लिए किस प्रकार अजनबी हो गया है इसका पर्याप्त चित्रण है। आधुनिक भावबोध ने जिस प्रकार व्यक्ति को अपने अस्तित्व के लिए सशंकित कर दिया है उसका पर्याप्त चित्रण है।

इस प्रकार इस काल में मनोविश्लेषणवाद पर फ्राइड, एडलर, जुंग, सार्त्र का प्रभाव स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

(ग़) ऐतिहासिक और प्रगतिशील उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यास की क्षीणकाय धारा इस युग में भी चलती रही है। इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासकारों पर ऐतिहासिकता के साथ-साथ मानवतावादी प्रवृति और

[46] वही, पृ 207

मार्क्सवादी दर्शन दोनों का प्रभाव स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है। यहां इतिहास सिर्फ अतीत का गुणगान या ग्लोरीफिकेशन का मुद्दा नहीं रहा बल्कि इतिहास का आलोचनात्मक विवेचन और विश्लेषण किया गया। इसलिए इनकी ऐतिहासिकता इतिहास के साथ-साथ प्रगतिशीलता का भी परिचायक है इस काल के प्रमुख उपन्यासकार चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा रांगेय राघव हैं।

ऐतिहासिक और पौराणिक पृष्ठभूमि पर राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखे गए प्रमुख उपन्यास हैं- 'सिंह सेनापति' (1942), 'जय यौधेय' (1944) 'मधुर स्वप्न' (1950) 'विस्मृत यात्री' (1953) और 'दीव ओ दास' (1962) आदि।

राहुल जी ने अपनी रचना भूमि का आधार इतिहास में प्राचीन काल के इतिहास को चुना है। गणतंत्र, राजतंत्र, आदिम साम्यवादी समाज का मॉडल, यायावर, बौद्ध भिक्षु आदि। "अनेक आलोचकों ने राहुल सांकृत्यायन में चुंबन महोत्सव और स्त्रियों के मुक्त व्यवहार को लेकर आपत्ति की है। वज्जी युवतियां, 'सिंह-सेनापति' में मुक्त चुंबन को अपनी कुंठाहीन निबध व्यवहार का संकेत जैसा मानती हैं। खान-पान, रास-रंग और उल्लास-ऊर्जा का यह सामूहिक सामूहिक प्रदर्शन गण समाज के प्रति राहुल के उत्साह अतिरेक का ही परिणाम है।"[47] 'जय यौधेय' में राहुल जी ने गणराज्य का मॉडल सोवियत संघ की समाज व्यवस्था की तरह दिखाने की कोशिश की है।

---

[47] मधुरेश, *हिंदी उपन्यास का विकास*, सुमित प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 2008 पृ 118

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) 'चारु चंद्रलेखा' (1963) 'पुनर्नवा' (1973) 'अनामदास का पोथा' (1976) आदि है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान समाज को ही केंद्र में रखकर लिखा गया है। 'चारु चंद्रलेख' आत्मकथात्मक उपन्यास है। "चारुचंद्र लेख आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए भी कहीं उनके प्रत्यारोपण का आभास नहीं देता। धर्म दर्शन और विभिन्न साधना पद्धतियों के बीच वह मानवीय जीवन की अर्थवत्ता के अन्वेषण का आख्यान है।"[48] "पुनर्नवा की सार्थकता उस इतिहास दृष्टि में निहित है जो परिस्थितियों और काल के अनुरूप शास्त्र और प्रचलित सामाजिक विधान में संशोधन एवं पुनर्विचार की संभावनाओं को रेखांकित करती है। इसका मूल आगरा जड़ शास्त्रीय विधि विधानों के झाड़ झंखाड़ में से मानवीय गरिमा और सत्य को अलग आने और प्रतिष्ठित करने का है।"[49]

अनामदास का पोथा उपनिषद कालीन भारत की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास है।

'मुर्दों का टीला' (1948) 'चीवर' (1951) 'अंधेरे के जुगनू' (1953) 'पक्षी और आकाश' (1957) 'राह न रुकी' (1958) आदि रांगेय राघव द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'मुर्दों का टीला' मोहनजोदड़ो की पृष्ठभूमि में आर्य आक्रमण को आधार बनाकर लिखा गया है।

---

[48] वही, पृ. 170

[49] वही, पृ. 171

आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा रचे गए प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं 'वैशाली की नगरवधू' (1948) 'वयम रक्षाम" (1955) और 'सोमनाथ' (1955) आदि। 'वैशाली की नगरवधू' शास्त्री जी द्वारा रचित प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास का फलक अत्यंत विस्तृत है। इस उपन्यास के कथा के केंद्र में मगध सम्राट बिंबिसार और नर्तकी आम्रपाली की प्रणय कथा है। 'वयम रक्षाम' आर्य अनार्य संघर्ष पर आधारित प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि की रचना है। 'आलमगीर' औरंगजेब पर केंद्रित है।

वृंदावनलाल वर्मा को ऐतिहासिक उपन्यास का जनक माना जाता है। 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' की रचना कर ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में स्थापित कर चुके थे। इस काल में उनके प्रमुख उपन्यास हैं 'झांसी की रानी' (1946) 'मृगनयनी' (1950) 'माधव जी सिंधिया' (1957) आदि। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को एक तरह से स्थापित करने का कार्य वर्मा जी ने किया उन्होंने लक्ष्मीबाई को स्वराज्य के युद्ध और राष्ट्रीय हित से जोड़ा तथा इस उपन्यास में हिंदू मुस्लिम एकता का भाव दिखाकर सांप्रदायिक सद्भावना की बातें करी हैं जबकि प्रेमचंद पूर्व युग की ऐतिहासिक रचनाएं कुछ स्तर पर सांप्रदायिक थीं।

ऐतिहासिक उपन्यास लेखन के समानांतर ही कुछ प्रगतिवादी उपन्यास की भी रचना हो रही थी और कुछ प्रगतिवादी रचनाकार ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से प्रगतिशीलता को स्थापित कर रहे थे। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, अमृत राय, भैरव प्रसाद गुप्त और भीष्म साहनी आदि।

राहुल सांकृत्यायन की ऐतिहासिक रचनाओं के अतिरिक्त जीने के लिए (1940) जैसी रचना है जो सामाजिक है। यशपाल का पहला उपन्यास 'दादा कॉमरेड' 1941 में प्रकाशित हुआ। उनके अन्य उपन्यास हैं 'देशद्रोही' (1943) 'दिव्या' (1945) 'कॉमरेड' (1946) 'अमिता' (1956), 'झूठा सच' आदि। यशपाल एक लेखक के साथ-साथ क्रांतिकारी भी थे। यशपाल अपने कई उपन्यासों में ऐतिहासिक वातावरण का सृजन करते हैं। कथानक और पात्र भी वह इतिहास सम्मत उठाते हैं। लेकिन उनकी संवेदनाएं आधुनिक और प्रगतिशील है।

(घ) आंचलिक उपन्यास

हिंदी उपन्यास में मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों से उब चुके पाठकों के लिए आंचलिक उपन्यास एक ठंडी बयार की तरह उपस्थित हुआ। आंचलिक उपन्यासकारों की रचनाओं में लोक जीवन का चित्रण जिसमें क्षेत्र विशेष की परंपरागत मान्यताएँ, रूढ़ियां, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार, धार्मिक-अधार्मिक विश्वास, अन्धविश्वास, आडम्बर, टोन-टोटके, शकुन-अपशकुन, भूत-प्रेत की धारणाएँ, मनोरंजन के विविध प्रकार, मन के विविध विकार, भाव-स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, उपेक्षा, प्रेम, आहलाद, उन्माद जैसी समग्र स्थितयों का वर्णन है। इनके चित्रण में सिर्फ मानवीय और मानवेतर पात्र ही नहीं है बल्कि प्राकृतिक दृश्यों, जन जीवन में प्रतिष्ठित किवदंतियों, कथाओं, गीतों, नृत्यों, ध्वनियों और लोकोक्तियां को भी पर्याप्त स्थान दिया है।

हिंदी साहित्य में आंचलिकता को सही मायने में व्याख्यायित करने का कार्य फणीश्वर नाथ रेणु द्वारा लिखा गया उनका प्रथम उपन्यास 'मैला आंचल' (1954) के प्रकाशन के साथ प्रारंभ हुआ। यह उपन्यास अपने प्रकाशन के साथ ही चर्चा का विषय भी रहा। इसके चर्चित होने के पीछे रेणु जी के स्वयं कहे गए शब्द हैं। रेणु ने मैला आंचल की भूमिका में लिखा है- "यह है *मैला आँचल*, एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है; इसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिम बंगाल। विभिन्न सीमा-रेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है, जब हम दक्खिन में संथाल परगना और पच्छिम में मिथिला की सीमा-रेखाएं खींच देते हैं। मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को- पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर- इस उपन्यास-कथा का क्षेत्र बनाया है। इसमें फूल भी है, शूल भी, धुल भी है गुलाब भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।"[50]

'मैला आंचल' में आजादी पूर्व और आजादी बाद के कुछ वर्षों के घटनाक्रम को समेटा गया है। इस उपन्यास में आंचलिक संस्कृति के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक गूंज को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। फणीश्वरनाथ रेणु का दूसरा उपन्यास 'परती परिकथा' (1957) भी आंचलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में परती अर्थात बंध्या या बंजर जमीन की कथा मुख्य कथा के रूप में है। इसके साथ कई और छोटी छोटी कथाएं अंगी कथा के रूप में मौजूद है। स्वतंत्रता पश्चात तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक परिदृश्य में

[50] फणीश्वरनाथ 'रेणु' (2003) *मैला आँचल*, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 'भूमिका'

परिवर्तन, आर्थिक कारणों के रूप में भूमि का असमान वितरण, विभिन्न सरकारी योजनाओं, ग्राम सुधार और विकास योजनाएँ, जमींदारी उन्मूलन, लैंड सर्वे ऑपरेशन और कोसी योजना आदि का विस्तार से वर्णन है।

नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' (1948) और 'बलचनमा' (1952) जैसे उपन्यास रेणु के उपन्यास से पहले ही प्रकाशित हो चुके थे। लेकिन आंचलिकता को लेकर हो रही विवाद 'मैला आंचल' से प्रारंभ हुआ इसलिए यह उपन्यास थोड़े बाद में चर्चित हुए। नागार्जुन ने मिथिला क्षेत्र को अपनी कथा भूमि का आधार बनाया। 'बलचनमा' (1952), 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) 'दुख:मोचन' (1956) आदि उनके अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास हैं।

उदय शंकर भट्ट की 'सागर लहरें और 'मनुष्य' (1956) राही मासूम रजा का 'आधा गांव', 'रांगेय राघव' का 'कब तक पुकारूं', शिवप्रसाद सिंह की 'अलग अलग वैतरणी', 'श्रीलाल शुक्ल की 'राग दरबारी', रामदरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ', 'पानी के प्राचीर' आदि महत्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास है।

(ड़) आधुनिकता बोध

औद्योगिकरण, शहरीकरण, महानगरीकरण के कारण यांत्रिक सभ्यता और अस्तित्ववादी पाश्चात्य विचारधारा की जो गति स्वतंत्रता के पश्चात मिली थी वह 60-70 के दशक और बाद के दशकों में और भी द्रुतगति से चली। जैनेंद्र, अज्ञेय ने जिस व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणवादी धारा की शुरुआत की थी वास्तव में उसका प्रतिफलन इन दशकों में

देखने को मिला। सन 60 के बाद हिंदी उपन्यास प्रौढ़ होता दिखता शुरू होने लगा। यह प्रौढ़ता कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर है।

धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' (1949) और 'सूरज' (1952) निर्मल वर्मा की वे दिन (1964) 'लाल टीन की छत' (1974) 'एक चिथड़ा सुख' (1979) 'अंतिम अरण्य' (2000) आदि, राजेंद्र यादव की 'उखड़े हुए लोग' (1956) मुक्तिबोध की 'विपात्र' (1970), कमलेश्वर की 'कितने पाकिस्तान' भीष्म साहनी की 'तमस' मोहन राकेश की 'अंधेरे बंद कमरे' मनोहर श्याम जोशी की 'कुरु कुरु स्वाहा', 'कसप', 'क्याप' आदि, मन्नू भंडारी की 'महाभोज' विनोद कुमार शुक्ल की 'नौकर की कमीज' आदि इस काल की महत्वपूर्ण रचनाएं हैं

महिला उपन्यासकारों में कृष्णा सोबती की 'सूरजमुखी अंधेरे में' (1972) 'जिंदगीनामा' उषा प्रियंवदा की 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (1961) 'रुकोगी नहीं राधिका? (1967), मन्नू भंडारी की 'महाभोज', 'आपका बंटी' मृदुला गर्ग की 'चितकोबरा' (1979) 'मैं और मैं' (1984) 'कठगुलब' (1996) आदि प्रमुख हैं। ममता कालिया की 'बेघर' (1971) राजी सेठ की 'तत्सम' (1983) 'निष्कवच' (1993) नासिरा शर्मा की 'सात नदियां: एक समंदर' (1985) प्रभा खेतान की 'छिन्नमस्ता' (1993) 'अपने अपने चेहरे' (1994) मैत्रेयी पुष्पा की 'बेतवा बहती रही' (1994), 'चाक' आदि स्त्री संदर्भ में लिखे गए महत्वपूर्ण उपन्यास है।

स्त्री मुक्ती और स्त्री विमर्श के स्वर के अतिरिक्त स्वतंत्र उत्तर परिदृश्य में दलित मुक्ति और दलित विमर्श के स्वर भी मुखरता से साहित्य में अपनी जगह बनाने लगे। दलित साहित्य ने दलितों की पीड़ा को समाज के सामने लाने का प्रयास किया जो अब भी जारी है। वैसे मानक रूप से दलित साहित्य की शुरुआत मराठी भाषा से हुई। हिंदी में डॉक्टर जयप्रकाश कर्दम द्वारा लिखित उपन्यास 'छप्पर' पहला दलित उपन्यास है वही मोहनदास नैमिशराय कि 'अपने अपने पिंजरे' आत्मकथात्मक विधा की प्रथम पुस्तक के रूप में आई। ओम प्रकाश बाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में हिंदी पट्टी में दलित पीड़ा के आयाम को दर्ज करने के साथ-साथ स्वर्ण मानसिकता और एक अबोध बालक पर सिर्फ सामाजिक व्यवस्था ही नहीं शिक्षण तंत्र की दोहरी भेदभाव नीति के चित्रण को बड़ी सजीवता से प्रस्तुत किया है। कौशल्या बैसंत्री ने 'दोहरा अभिशाप' नाम से अपनी आत्मकथा लिख कर दलित महिला लेखन को समृद्ध किया। इसके अतिरिक्त सूरजपाल चौहान, डॉ श्योराज सिंह बेचैन, कर्मशील भारती जैसे लेखक का दलित साहित्य लेखन में महत्वपूर्ण योगदान है।

इस प्रकार भागे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति ने जहां इन्हें आत्मकथात्मक शैली में लिखने के लिए प्रेरित किया वही दलित उपन्यास ने यह स्थापित किया की हिंदी साहित्य किसी वर्ण या जाति विशेष की धरोहर नहीं रही।मराठी साहित्य का प्रयोग प्रभाव और अस्तित्ववादी बोध एवं अस्मिता की तलाश ने दलित साहित्य को नए सौंदर्य के मानदंडों की स्थापना के लिए प्रेरित किया। स्पष्ट है कि दलित उपन्यास आज सिर्फ हिंदी उपन्यास की धरोहर ही नहीं बल्कि गति देने वाली नियामक तत्व भी है।

निष्कर्ष

निश्चित रूप से कहानी एवं उपन्यास एक ऐसी कलात्मक विधा है जो सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को आत्मसात करते हुए अपने समय से टकराने का साहस भी रखती है और मनुष्य के बौद्धिक विकास एवं मानसिक-नैतिक परिष्करण की संभावनाएं भी मुहैया कराती है। ये साहित्यिक विधाएँ अपने उदय से लेकर आज तक नित नए परिवर्तनों के साथ गतिमान भी है और अपनी सर्जनात्मक एवं संवेदनात्मक वैविध्य के कारण समाज का दिशा-निर्देशक भी।

अध्याय- तीन
यथार्थ: अर्थ, स्वरूप और विवेचन

लेखक को समाज का प्रवक्ता माना जाता है जिसका परम कर्त्तव्य मूक एवं खामोश पड़े हुए व्यक्ति की संवेदना को झकझोड़ना है साथ ही साथ इस मूक और अकेली पर गयी संवेदना को नया स्वर भी देना है । यह लेखक किस प्रकार करता है यह उनके कला-कौशल और सृजन शक्ति पर निर्भर करती है। आधुनिक पाश्चात्य व भारतीय साहित्य विशेषकर गद्य साहित्य के मूल्याङ्कन का एक महत्वपूर्ण पैमाना आलोचकों ने यथार्थ चित्रण को माना है। आधुनिक साहित्य में जब रचना का मूल्याङ्कन किसी विचारधारा की कसौटी पर हो तो यथार्थ उन कसौटियों में संभवतः अव्वल नम्बर पर आएगी। आधुनिक काल की नवजागरणपरक चेतना, शिक्षा का प्रसार, युद्ध की विभीषिका, जीवन की कठिन सच्चाई, इत्यादि ने वह वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार की जहाँ किसी रचना या रचनाकार की सार्थकता इस बात पर निर्भर होने लगी कि ये रचनाएँ जीवन की सच्चाई किस प्रकार व्यक्त करती हैं। अगर उसमें इन तत्वों का प्रस्फुटन है तो रचना सफल या सफल न सही तो एक ईमानदार कोशिश जरूर मानी जाती है; और अगर इन तत्त्वों का रचना में अभाव है तो रचना का उद्देश्य क्या है इस पर प्रश्न जरूर उठने लगता है। इन सारे प्रश्नों का आधार यह है कि साहित्य समाज का दर्पण है तो कोई भी साहित्य सामाजिक सरोकारों से विलग कैसे हो सकती है। समाज में व्याप्त गरीबी, भूखमरी, छल, प्रपंच, संबंधों का विघटन, शोषण, वर्ग-संघर्ष इत्यादि को स्वर देना

साहित्य का मुख्य उद्देश्य होना ही चाहिए, पर यह साहित्य का एकमात्र उद्देश्य हो इस पर मतभिन्नता है। परन्तु इसमें दो राय नहीं कि आधुनिक साहित्य में यथार्थ की अवधारणा ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालाँकि, यहाँ इन मतान्तरों में उलझने कि बजाय यथार्थ के अर्थ को समझने तथा उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों पर पर विचार करना इस अध्याय का मुख्य ध्येय है।

आधुनिक काल अपने साथ कई परिवर्तनों की बयार लेकर आया। इस काल में सामजिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन में परिवर्तन तो आए ही साथ ही साथ वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन आए। साहित्य भी इन परिवर्तनों से अछूता नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी में खासकर फ्रांस के कलाकारों में रोमांटिसिज्म की कल्पनशीलता के विरुद्ध यथार्थ और वास्तविक की मांग उठने लगी। जिसके फलस्वरूप कथा-साहित्य में यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, प्रकृतवाद इत्यादि धारणाओं का प्रवेश हुआ। इनका मानना था कि ये स्वच्छंदतावादी लेखकों की वैचारिक नींव इतनी कमजोर है कि जिस पर कितनी भी मूल्यवान और सुन्दर चित्र का निर्माण क्यों न कर लें पर उस चित्र का कोई औचित्य नहीं है। इनके विचार में बिना मजबूत आधार के मजबूत भवन का निर्माण नहीं हो सकता।

भारतीय समाज और साहित्य में भी इन परिवर्तनों की आहट सुनाई दी पर थोड़े विलम्ब से। औपनिवेशिक शासन और वर्गगत भेदभावों के कारण अपनी चमक खो चुके भारतीय समाज ने इन परिवर्तनों को आत्मसात करना आरंभ किया और हिंदी साहित्य में भी इन वैचारिक अवधारणाओं की प्रतिश्रुति दिखने लगी।

'यथार्थ' शब्द बहुआयामी शब्द है, इसलिए इसकी एक सर्वमान्य एवं निर्विवाद परिभाषा देना बहुत ही जटिल कार्य है। विभिन्न पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने यथार्थ को भिन्न-भिन्न मतानुसार परिभाषित किया है। 'यथार्थ' के लिए अंग्रेज़ी में 'रियलिटी' या 'रियल' पद प्रयुक्त होता है। 'यथार्थ' शब्द दो पदों से मिलकर बना है- 'यथा' और 'अर्थ'। 'यथा' का अभिप्राय है 'जैसा' और 'अर्थ' अर्थात 'वस्तु' तत्व, 'द्रव्य', 'पदार्थ' आदि। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यथार्थ का सामान्य 'अर्थ' होता है- किसी भी वस्तु को उसके मूल रूप में सम्प्रेषित करना अर्थात् जो जैसा जिस रूप में है, वैसा ही चित्रण करना यथार्थ है। ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार 'रियलिटी' का अर्थ है- ""the state of things as they actually exist; or a thing that is real; or the state of being real"[1]। अगर इस अर्थ का विश्लेषण करें तब भी यथार्थ का उपरोक्त वर्णित अर्थ ही व्यावहारिक प्रतीत होता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. गुलाब राय के अनुसार - "यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, धूप-छाँव और सुख-दु:ख मिश्रित रहता है। यह सामान्य भाव भूमि के समतल रहता है और वर्तमान की वास्तविकता में सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तु है जो उसकी पहुँच के बाहर हैं। भविष्य उसके लिए कल्पना का खेल है। वह संसार के हाहाकार और करुण क्रदन का यथातथ्य वर्णन करता है। वह कठोर सत्य को कहने में नहीं हिचकिचाता। वह

[1] Oxford Englisg Dictionary

वास्तविकता के नाते संसार में पाप और बुराई का विजय घोष करने में संकुचित नहीं होता। वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित ही देखना चाहता है। वह उसे तपा-गला कर और उसमें चमक उत्पन्न कर लोगों को चकाचौंध में नहीं डालना चाहता।"[2]

गजानन माधव मुक्तिबोध ने यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए लिखा है- "आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है, जिसको समझने के लिए इडा, पिंगला, सुष्मना नाडियों को तीव्र करना जरूरी है। आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है, जो हम स्वयं रोजमर्रा जीते है।"[3]

त्रिभुवन सिंह के अनुसार- "यथार्थ का यदि विस्तृत अर्थ लगाया जाये तो यह साहित्य की वह शैली अथवा प्रकृति है, जो सदैव से रचनात्मक साहित्य की मूल भित्ति रही है, परन्तु आजकल साहित्य में इसका जिन अर्थों में प्रयोग किया जा रहा है, वह नितान्त इससे भिन्न है।"[4]

---

[2] डॉ. गुलाब राय, "उपन्यास में यथार्थ और आदर्श की सीमाएँ", *समालोचक*- डॉ. रामविलास शर्मा, सहसम्पादक राजनाथ शर्मा, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय पृ.सं. १५६

[3] गजानन माधव मुक्तिबोध, नई कविता का संघर्ष, पृ० 97

[4] डॉ० त्रिभुवन सिंह, *हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद*, पृ० 2

यथार्थ और 'यथार्थवाद'

हिंदी साहित्य में यथार्थ के अर्थ व स्वरूप कि विवेचना करने से पहले एक तथ्य को स्पष्ट करना बहुत आवश्यक है। कई बार यथार्थ और 'यथार्थवाद' को समानार्थी और एक दूसरे के साथ परिवर्तनीय (interchangeable) मान लिया जाता है जबकि यह बिल्कुल सच्चाई से परे है। जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है, पर इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति यथार्थवाद है। यथार्थवाद अभिव्यक्ति है और यथार्थ उसका स्रोत। यथार्थवाद दो शब्दों के मेल से बना है 'यथार्थ' और 'वाद'। यथार्थ का अर्थ है जो जैसा है और 'वाद' का अर्थ है सिद्धान्त। इस प्रकार यथार्थवाद का अर्थ है जो जैसा है, उसका उसी रूप में निरूपण/वर्णन।

यथार्थ और यथार्थवाद के बीच भेदक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। "यथार्थवाद यथार्थ की आधारभूमि पर जीवन का नूतन चित्र है। यथार्थवाद हृदय की वस्तु है और यथार्थ उसका मूल स्त्रोत, जो अपनी विषय-वस्तु जीवन की यथार्थता से ग्रहण करता है।"[5]

ब्रेख्त के मतानुसार- "यथार्थवाद केवल साहित्य की विशेष शैली या विधा नहीं है और न ही यह सिर्फ साहित्य के रूप का प्रश्न है। यथार्थवाद एक तरह की ऐसी कला है जो सामाजिक नियमों व विकास को अन्वेषित करती है और यह समाज में प्रचलित विचारधाराओं की वास्तविकता की कलई उस वर्ग के दृष्टिकोण से खोलती है जो

[5] डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० 7

सामाजिक समस्याओं का सबसे अच्छा व व्यापक हल प्रस्तुत कर सकता है। इस तरह का लेखन चीजों की बनावट व संरचना को पुननिर्मित करने के संकीर्ण अर्थ में सत्याभास से सम्बद्ध नहीं होता। यह हमेशा ही अन्वेषण एवं फैंटेसी के व्यापक प्रयोग से जुड़ा होता है। हर किस्म का कलासाहित्य जो हमें दुनिया के यथार्थ से परिचित कराने का दावा करता है यथार्थवादी नहीं होता।"[6]

"सभी उपन्यासों में यथार्थ चित्रण मिल सकता है, पर सभी उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इससे स्पष्ट है कि कहीं न कहीं कोई रेखा खींचनी पडेगी। जिसके द्वारा यथार्थ और यथार्थवाद को अलग किया जा सके। ...विषय चयन और वास्तविकता की दृष्टि से यथार्थ और यथार्थवाद एक दूसरे के पूरक है, पर शैली एवं अभिव्यक्ति की कलात्मकता की दृष्टि से सीमा तक दोनों में अन्तर देखने को मिल सकता है। यथार्थ जीवन को चित्रित करते समय यथार्थवाद उसे कला के माध्यम से मोडने का प्रयास करता है। जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है और उसका कलात्मक अभिव्यक्तिकरण यथार्थवाद है।"[7]

यथार्थ की प्रमुख विशेषता है, जहाँ लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के, ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आस-पास देखता है अनुभव करता है, उसका चित्रण करता है। जबकि "यथार्थवाद वह साहित्यिक संयोग है जो चुनाव तथा रचना

---

[6] मार्क्सवाद और साहित्यालोचन: टेरी ईगलटन अनुवाद – वैभव सिंह, पृ.सं. 79

[7] डॉ० सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास: शिल्प और प्रयोग, पृ० 142

के माध्यम से अपने वास्तविक विचारों को समुन्नत रुप में पाठकों के सामने उपस्थित करता है।"[8]

हिंदी साहित्य में यथार्थवाद के निरूपण में पाश्चात्य और भारतीय दोनों मतों का योगदान है। हालाँकि यथार्थवाद पर पश्चिम में अधिक स्पष्टत: और विधिवत रूप से चिन्तन हुआ है। जार्ज ल्यूकाक्स के अनुसार- "सच्चे यथार्थवादी साहित्य की यह विशेषता है कि लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आस-पास देखता है, उसका चित्रण करे।"[9] यही नहीं यथार्थ केवल अंधकार नहीं है, वह अंधकार से फूटने वाले प्रकाश की तरह है। "कहने का अर्थ यह है कि यथार्थ एक व्यापक और संश्लिष्ट वस्तु है जिसमें मानव समाज के सामूहिक और व्यक्तिगत, बाहरी और भीतरी, परिस्थितिगत और मानसिक अंधकारमय और प्रकाशमय सभी प्रकार के सत्य एक दूसरे से मिले जुले होते हैं। जिनकी दृष्टि सतही या एकांगी होती है वह यथार्थ को धरातल पर लक्षित होने वाली घटनाओं और व्यापारों का पर्याय मान लेते हैं या अपनी दृष्टि की एकांगिता के अनुसार जीवन के गलित या की तथाकथित सुंदर पक्ष को चुनकर प्रतिष्ठित करते हैं। यथार्थवाद के संबंध में यह धारणाएं भ्रामक है

[8] माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और हिन्दी उपन्यास: कुंवरपाल सिंह पृ.सं. ३७

[9] जार्जल्यूकाक्स, स्टडी इन यूरोपियन रियलिज्म, पृ० 137

यथार्थ का स्वरूप बरा ही संश्लिष्ट जटिल और परिवर्तनशील होता है। उसे देखने के लिए जीवन का गहरा अध्ययन और अनुभव अपेक्षित होता है।"[10]

उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द जी के अनुसार- "यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ और खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं और चूंकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि उसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं अपमानित होते हैं, उनको नेकी का फल उल्टा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है।"[11] प्रेमचंद ने ठीक ही लिखा है, "यथार्थ क्या है? यथार्थ व्यक्ति का भी होता है, समाज का भी। अर्थात एक पूरा का पूरा समाज एक विशेष ऐतिहासिक परिधि में एक विशेष प्रकार की बनावट में जीता है, उसकी कुछ सामान्य विशेषताएं होती हैं, कुछ सामान्य प्रश्न होते हैं, सामान्य संघर्ष होते हैं, सामान्य जीवन मूल्य होते हैं, सामान्य सांस्कृतिक धरातल होता है, सामान्य विश्वास, सामान्य महत्ताएँ और हीनताएँ होती हैं, व्यक्ति इस समाज का या

---

[10] **रामदरश मिश्र**, ***हिंदी उपन्यास एक अंतरयात्रा***, **राजकमल प्रकाशन**, **नई दिल्ली**, **छठा संस्करण**, 2016, **पृ** 29-30

[11] त्रिभुवन सिंह, *हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद* पृ.सं. ८२

अखिल सृष्टि का एक सदस्य है, अतः उसमें बहुत ही सामान्यताएं यानी की एकरूपताए प्राप्त होती हैं ,किंतु व्यक्ति व्यक्ति के अपने भी कुछ सत्य होते हैं जिन्हें वही जीता है।"[12]

दरअसल, प्रेमचंद का यथार्थ सामाजिक यथार्थ है जोआदर्श से शुरू होकर यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ और उनके कथा साहित्य जैसे 'कफन', 'सद्गति' 'दूध का दाम' और गोदान तक आते-आते घोर यथार्थवादी रचनाओं में परिणत हो गया। प्रेमचंद के यहां यथार्थ कभी सिर्फ एक व्यक्ति के यथार्थ के रूप में प्रकट नहीं हुआ बल्कि यथार्थ की अभिव्यक्ति व्यक्ति और समाज के द्वंद्व से ही उत्पन्न हुआ। प्रेमचंद का यथार्थ यथार्थ होकर भी प्रकृतवाद के स्तर तक नहीं गया क्योंकि उन्होंने सामाजिक हित को कभी नजरअंदाज नहीं किया । प्रेमचंद की तरह जयशंकर प्रसाद ने भी यथार्थ को परिभाषित किया है । प्रसाद के यहां पद्य और यह कथा साहित्य के यथार्थ लेखन में अंतर रहा है । उन्होंने कथा साहित्य के लिए भाव जगत से ज्यादा वस्तु जगत की उपस्थिति को अनिवार्य माना है । हालांकि इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि पद्यात्मक रचनाओं में यथार्थ का प्रक्षेपण नहीं है । प्रसाद और प्रेमचंद दोनों की रचनाओं में यथार्थ आदर्श से बच नहीं पाया है । लेकिन उनके सामाजिक उपन्यास और विशेषकर उनके लिखे नाटक में तत्कालीन समय और समाज की यथार्थगत समस्याएं मौजूद है । प्रसाद प्रकृतित: कवि हैं और उनकी इस काव्य दृष्टि और शैली का प्रभाव उनके कथा साहित्य पर भी है ।

---

[12] रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यास एक अंतरयात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2016, पृ 30-31

जयशंकर प्रसाद के अनुसार, "यथार्थवाद एक साहित्यिक दृष्टि है, उसकी विशेषताओं में प्रधान एवं लघूता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात है, उसमें दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। साहित्य के माने हुए सिद्धान्तों के अनुसार महत्ता के काव्य चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख हो।"[13]

रामविलास शर्मा यथार्थ (यथार्थवाद) को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "यथार्थवाद को सीमित अर्थ में लेना अनुचित है, उसमें सामाजिक समस्याओं के चित्रण के अलावा प्रकृति-चित्रण भी हो सकता है, संघर्ष के चित्रण के अलावा प्रेम के मुक्तक भी लिखे जा सकते है।"[14] डॉ रामविलास शर्मा ने यहां साहित्यिक यथार्थ को परखने के लिए नयी आलोचना दृष्टि की तलाश की ओर संकेत किया है ।

त्रिभुवन सिंह यथार्थवाद के संदर्भ में लिखते है, "यथार्थवादी साहित्यकार वस्तु जगत् का अस्तित्व मानकर चलता है। यथार्थवादी रचनाकार जगत् की किसी भी सुन्दर और कुरूप वस्तुओं के चित्र उसके जस-के-तस प्रस्तुत करने में हिचकिचाता नहीं, रचनाकार वस्तुनिष्ठ दृष्टि अपनाकर एक प्रकार से समाज और वस्तुओं का सही रूप प्रस्तुत करने के लिए प्रतिबद्ध रहता है।"[15]

---

[13] जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला व अन्य निबन्ध, पृ० 120

[14] डॉ० रामविलास शर्मा, आस्था और सौन्दर्य, पृ० 27

[15] डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० 44

"'यथार्थवाद' का प्रमुख गुण अवतारवाद का खण्डन है। वह मानव एवं उसके मस्तिष्क को इस संसृत के क्रियाकलापों एवं व्यवसायों में सन्निहित करके उन्हें उनका उचित स्थान प्रदान करता है। यह एक ओर तो भौतिकता को आदर्शवादी संस्पर्श से मुक्त करता है और दूसरी ओर उन्हें चेतन जीवन का आधार प्रस्तुत करता है। यथार्थवाद मस्तिष्क को ऐन्द्रजालिक विदूपताओं से मुक्त करता है और इसके मूल्यों की रक्षा करता है।"[16]

प्रत्येक युग में वास्तविकता को ढूंढना ही साहित्य में सच्चा यथार्थवाद है। इसका अर्थ है कि युग के साथ-साथ युग दृष्टि भी बदलती हैं और वास्तविकता को देखने का नजरिया भी। जिस प्रकार दृष्टि बदलती है उसी प्रकार बदले देश, काल और वातावरण में यथार्थ की अवधारणा भी उस युग विशेष की तरह बदलती है। कई आलोचकों ने इस पर प्रकाश डाला है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते है, "यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है, जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।"[17] हिंदी कथा-साहित्य के प्रख्यात कहानीकार और आलोचक कमलेश्वर ने यथार्थ की परिवर्तनशीलता पर लिखा है- "यर्थाथ कोई स्थिर तत्व नही है, वह निरन्तर गतिमान

[16] डॉ. त्रिभुवन सिंह, *हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद* पृ.सं. ९०

[17] हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ० 95

है और उसके पहलू हैं, जो आदमी को बदलते जाते है, विचार परिवेश भौतिक आधार और संबंधों का निरंतर संक्रमण होते रहने की तरल स्थिति ही यथार्थ की स्थिति है।"[18] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यथार्थवादी रचनाकार के लिए नित नए संदर्भों की तलाश का स्कोप हमेशा खुला रहता है। एक सच्चा यथार्थवादी रचनाकार बने-बनाए लीक पर नहीं चल सकता। इसी की ओर इशारा करते हुए विजयशंकर 'मल्ल' लिखते है- "यथार्थवादी साहित्य किसी पीटी-पीटाई सड़क पर चलकर, अपनी नियामक शक्ति का जलवा दिखाना नहीं चाहता। वह बहुत ही स्थूल, एकदम एकांगी और असंवेद्य होगा। उसके लिए बंधन इतना ही लगाया जा सकता है कि वह सामाजिक हों और सामान्य अनुभूतियों के मेल में यथार्थ का अंकन करे ।"[19]

समाज के हर अच्छे-बुरे क्रिया-कलापों का तटस्थ दृष्टि से वर्णन करने वाला साहित्यकार ही सच्चा यथार्थवादी साहित्यकार कहलाता है। परंतु यदि साहित्य में यथार्थ का वर्णन बिना कल्पना शक्ति के किया जाए तो वह चित्रण यथार्थवादी न होकर फोटोग्राफिक अधिक लगेगा। समाज के अच्छे और बुरे दोनों पक्षों की जिसमें वास्तविकता हो, यथार्थ चित्रण कहलाता है। रांगेय राघव के अनुसार- ""साहित्य का सत्य कल्पना को बिल्कुल छोड नहीं देता । वह यथार्थ के आधार पर जितना भी दृढ़

[18] डॉ० कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, पृ० 83

[19] प्रो० विजयशंकर 'मल्ल', हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद, पृ० 16

होता है, वह उतना ही गहराईयों तक पहुंचता है।"[20] इसी प्रकार गणपति चन्द्र 'गुप्त' के अनुसार- "कोई भी कलाकार (साहित्यकार) कितना ही यथार्थवादी क्यों न हो, बिना कल्पना के पंखों पर सवार हुए वह भाव जगत् का भ्रमण नहीं कर सकता।[21]

अत: यथार्थ के अन्दर एक सीमा तक कल्पना का समावेश भी आवश्यक है। यदि कल्पना में अतिश्यता होगी तो अधिक संभावना है कि यथार्थ अपने मूल उद्देश्य से भटक जाए। इस प्रकार कल्पना और सत्य के सुन्दर मेल द्वारा यथार्थ अधिक प्रभावोत्पादक होगा।

यथार्थवाद की पृष्ठभूमि एवं हिंदी साहित्य

साहित्य में सदैव ही किसी न किसी रूप में यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु साहित्य में यथार्थवाद का प्रचलन आधुनिक युग में हुआ। पाश्चात्य साहित्य विशेषकर यूरोप में अठारहवीं शताब्दी में में यथार्थवाद सम्बन्धी गम्भीर विवेचन आरम्भ हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी में अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गया। इसलिए योरोप यथार्थवाद के उदभव और विकास का प्रमुख केन्द्र रहा है। आधुनिक काल को संक्रमण काल की भी संज्ञा दी जाती है। इस काल में वैश्विक स्तर पर कई ऐसे परिवर्तन हुए जिसने न केवल सामाजिक जीवन को प्रभावित किया वरन मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में भी इसका प्रभाव पड़ा। इसका घोर असर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक जीवन पर पड़ा। वैज्ञानिक प्रबोधन, दार्शनिक आधार, औद्योगिक क्रांति,

---

[20] डॉ० रांगेय राघव, आलोचना पत्रिका, अंक 1952

[21] डॉ० गणपति चन्द्र 'गुप्त', *हिन्दी भाषा और साहित्य विश्वकोश*, पृ० 549

शिक्षा का प्रसार, रूस की क्रांति, इत्यादि कई ऐसे कारण गिनाये जा सकते हैं जिसके कारण साहित्य में भी परिवर्तन की माँग आयी। शिक्षा के प्रसार ने भी साहित्य में यथार्थ निरूपण को बल दिया। शिक्षा प्रसार से मनुष्य में नयी जाग्रति आयी और उन्होंने शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाना प्रारंभ किया। बुद्धिजीवी वर्ग ने आवाज़ उठाने का कार्य अपने कलम के माध्यम से किया। उन्होंने साहित्य के माध्यम से ऐसा किया जिसके फलस्वरूप यथार्थवादी रचनाओं का उदय हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में 'यथार्थवाद' शब्द का उपयोग रोमैंटिसिज़म के प्रतिक्रिया के रूप में होता है। सन् 1855 ई. में 'कोर्वे' ने अपने चित्रों का प्रदर्शन किया। इन चित्रों में यथातथ्य निरूपण की शैली व्यवहृत हुई और उसके संबंध में 'रियलिज्म' शब्द का प्रयोग उसके निर्माता ने स्वयं किया। साहित्य के क्षेत्र में अगर देखा जाय तो इसकी नींव सन् 1856 में फ्लावेर के उपन्यास 'मेडेम वोवेरी' के प्रकाशन के द्वारा पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी में कथा-साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद और प्रकृतवाद की धाराओं की ही प्रधानता रही और उन्हीं के द्वारा सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन हुआ। यथार्थ-चित्रण के प्रति आग्रह आधुनिक साहित्य में ही दिखाई पड़ता है। विशेषकर साहित्य की आधुनिक विधा 'उपन्यास' के उदय के मूल में यह विशेषता सक्रिय मानी जाती है। " विद्वानों ने डीफो रिचर्डसन और फीलिंडग की औपन्यासिक कृतियों में यथार्थवादी प्रवृत्तियों की प्रमुखता को रेखांकित किया है।"

इनमें परम्परागत साहित्यिक रुढ़ियों को अस्वीकार कर सर्वथा नये मार्ग के अनुसंधान का प्रयास है जो यथार्थबोध पर अधारित है। इन्होंने अपने कथानक इतिहास पुराण या प्राचीन साहित्य से न लेकर सीधे जीवन से लिए। यह मौलिकता यथार्थवाद की खास पहचान है। मनुष्य समाज में रहता है और समाज में रहने वाले मनुष्यों के बीच नाना प्रकार के सूक्ष्म, जटिल और उलझे हुए संबंध होते हैं। मनुष्य और जिस समाज मे वह रहता है, दोनों परिवर्तनशील हैं। साथ ही मनुष्य, उसका समाज और दोनों के पारस्परिक संबंध दिक और काल सापेक्ष भी है। यथार्थवाद चूँकि मनुष्य और उसके परिवेश तथा जिस समाज में वह अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है उसका यथातथ्य, हू-ब-हू या वास्तविक चित्र प्रस्तुत करने का आग्रही होता है अत: वह भी देशकाल सापेक्ष होता है। यूरोप में दर्शन और साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ १८ वीं शताब्दी में उभरी और प्रमुख रही। सभी प्रकार के साहित्य- काव्य, नाटक, उपन्यास कहानी में हमें यथार्थ दिखाई पड़ते हैं। कला और साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद वह प्रवृत्ति है जिसमें वस्तुओं और व्यक्तियों के वास्तविक स्वरूप का, पारस्परिक संबंधों का तथा उनके गुण-दोषों का सही वर्णन किया जाता है।

आधुनिक दौर में कई वैज्ञानिक शोध हुए जिसने जीवन के अन्य पहलुओं के साथ-साथ साहित्य को भी प्रभावित किया। इनमें सबसे महत्वपूर्ण था डार्विन का 'विकासवाद'। डार्विन ने अपने शोध के द्वारा यह स्थापित करने का प्रयास किया कि- "'मनुष्य और कुछ नहीं केवल अन्य प्राणियों की भाँति एक विकसित जन्तु है। विकासवाद के इस

वैज्ञानिक तथ्य ने रोमान्टिक भावधारा को बहुत धक्का दिया और विक्टोरिया युग के लेखकों को बहुत प्रभावित किया।"[22]

डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अविर्भाव हुआ उसने मनुष्यों को प्रकृति के निकट ला दिया और उसने अपने आस-पास की वस्तुओं से अपने संबंध ढूंढ निकाले। “यह विज्ञान मानव जीवन और पशु जीवन में अभेद स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इसने अपने चमत्कार कई दिशाओं में दिखलाये। जितने भी जीव-जन्तु रखे सब की वैज्ञानिक दृष्टि से परख हुई, यहाँ तक कि पेड-पौधों की वैज्ञानिक छानबीन सफलता पूर्वक की गई।”[23]

इन विचारों ने मनुष्य को आदर्श से हटकर कुछ अलग सोचने के लिए विवश किया। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप साहित्य में एक नवीन विचारधारा 'प्रकृतवाद' के नाम से प्रचलित हुई।

इसके साथ-साथ फ्रायड ने इसी समय में मनोविश्लेषणवाद के सिद्धांत का प्रलोपन किया जिसने भी साहित्य को एक नयी धारा प्रदान की। जिसके परिणाम स्वरूप साहित्य में मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद जैसी धारा का जन्म हुआ।

लगभग इसी दौर में विश्व पटल पर कार्ल मार्क्स नामक एक ऐसे चिंतक का आगमन होता है जिसने विश्व चिंतन को एक नया आयाम दिया। मार्क्स के अनुसार समाज दो वर्गों में विभाजित है- शोषक और शोषित। मार्क्स ने अपने लेखन से शोषित वर्ग की

---

[22] डॉ० कमला कुमारी जौहरी, हिन्दी के स्वच्छन्तावादी उपन्यास, पृ० 75

[23] डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० 29

जोरदार वकालत की। फलतः साहित्य में 'समाजवादी यथार्थवाद' का चित्रण आरंभ हुआ।

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति भी साहित्य में यथार्थ की अभिव्यक्ति को स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण कारण है। मशीनों ने मनुष्य के जीवन को बड़ी तेजी से प्रभावित किया। जो काम बहुत सारे लोग मिलकर एक लम्बे समय में कर पाते थे उसे मशीन ने बहुत ही कम समय में करना शुरू किया। शुरुआत में तो यह आकर्षण का विषय रहा पर जल्दी ही इसके दुष्परिणाम जीवन में परिलक्षित होने लगे। शीघ्र ही बेकारी की समस्या ने समाज को पूर्णत: झकझोर दिया। आवश्यकताओं में बेतहाशा वृद्धि होने के कारण परेशानी भी बढ़ी और सामाजिक जीवन अत्यन्त विषम एवं जटिल हो गया था। इन्हीं समस्याओं, विषमताओं और जटिलताओं ने मनुष्य को यथार्थ के कठोर प्रहार से अवगत कराया।

संचार माध्यम, प्रैस तथा मनुष्य की भाग-दौड ने साहित्य को मनोरंजन के स्थान से उठाकर व्यवहार के ठोस धरातल पर ला खड़ा किया जिससे साहित्य जीवन के और अधिक निकट आया। इन्ही प्रभावों को इंगित करते हुए त्रिभुवन सिंह लिखते है, “मुद्रण यंत्रों के अविष्कार ने गद्य साहित्य को प्रोत्साहन देकर तथा छापेखानें की सुविधाओं के कारण साहित्य को मनुष्यों के दैनिक जीवन के अत्याधिक निकट ला दिया।"[24]

यथार्थवाद का नया स्वरूप हमें रूसी रचनाओं में मिलता है। तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों तथा सामाजिक संवेदनापूर्ण उपन्यासकारों की परम्परा ने इस

[24] डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० 34

दृष्टिकोण को विशेष रूप से विकसित किया। अब साहित्य में वर्ग-संघर्ष, शोषणमूलक व्यवस्था, सर्वहारा वर्ग का चित्रण और बेबाकी से होने लगा या यूं कहें की ये सारे तत्व अब साहित्य लेखन के केंद्र में आ गए। "जर्मनी के इतिहास-लेखक और स्वच्छंदतामूलक राष्ट्रीयता के आदर्श ने रूसी समीक्षकों पर भी अपना प्रभाव डाला और साहित्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण समझी जाने लगी। बेलेनस्की (1811-1848), चेरेनेशेवस्की (1828-89), दोब्रोत्योबाब (1836-61) और दिमित्री पिस्त्रेव (1840-68) इस नई अर्थवादी-राष्ट्रीयतावादी नैतिक विचारधारा के अग्रणी हैं। उन्होंने पुश्किन, गोगल, लेरमोन्ताव, तुर्गनेव, दोस्तोवस्ती और टालस्टाय की रचनाओं के आधार पर यथार्थवाद की नई व्याख्या की और उसमें वस्तुगतता, ऐतिहासिक समकालीनता, सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकता और साहित्य के जीवनगत उत्तरदायित्व पर बल दिया।"[25]

"अक्तूबर 1917 के रूसी क्रान्ति के तत्काल बाद के समय की विशेषता थी – मध्य और दक्षिणी पूर्वी यूरोप के सभी देशों में क्रान्तिकारी साहित्य का तेजी से विकास 1917 के ठीक पहले के वर्षों में समाजवादी यथार्थ के लिए जमीन तैयार की गई थी। पहला बीज बोया जा चुका था, उसके लिए आवश्यक स्थिति पनप चुकी थी। इस युग की नवीन रचनाओं की प्रकृति संक्रात्मक थी। 1917 के बाद सामाजिक यथार्थ ने एक ऐसी

---

[25] "यथार्थवाद की विभिन्न भूमियाँ" *समालोचक* 3, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ.सं.66

कल्पनात्मक पद्धति के रूप में प्रभाव डालने के प्रयास किये जो क्रान्तिकारी साहित्य के सर्वाधिक उपयुक्त थे।"[26] इसी रूसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप यथार्थवादी साहित्य का जन्म हुआ।

शिक्षा के प्रसार ने भी साहित्य में यथार्थ निरूपण को बल दिया। शिक्षा प्रसार से मनुष्य में नयी जाग्रति आयी और उन्होंने शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाना प्रारंभ किया। बुद्धिजीवी वर्ग ने आवाज़ उठाने का कार्य अपने कलम के माध्यम से किया। उन्होंने साहित्य के माध्यम से ऐसा किया जिसके फलस्वरूप यथार्थवादी रचनाओं का उदय हुआ।

"यथार्थवाद के मूल में विवेक और तर्क होता है। जिस तरह की स्थूल सत्ता का प्रमाण हमारे पास न हो, वह यथार्थ की श्रेणी में नहीं आता। जासूसी, तिलस्मी और आध्यात्मिक रचनाएँ यथार्थ की श्रेणी में नहीं आतीं। यथार्थवाद का प्रयोग आदर्शवाद और रोमांटिसिज्म के विरोध में किया जाता है। सत्य की अभिव्यक्ति बिना तथ्यों और वास्तविकता के नहीं हो सकती। तर्क एवं बौद्धिकता ही यथार्थ का मूलाधार है।"

यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशों के साहित्य में विभिन्न कालों में मिलती हैं। वस्तुत: यथार्थवाद सुधारक साहित्य का प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थिति के यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार वह पाठक के मन में उस आक्रेश को जन्म देना चाहता है, जिसके बिना किसी भी सुधार परिवर्तन अथवा क्रन्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

---

[26] निर्मला जैन, (अनुवादक) *समाजवादी साहित्य: विकास की समस्याएँ*, पृ० 36

आधुनिक साहित्य में 'यथार्थवाद' से जो तात्पर्य हम लेते हैं वह हिन्दी साहित्य को योरोपीय साहित्य की देन है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार तो 'यथार्थवाद' शब्द भी 'अंग्रेजी के रियलिज्म' की 'तौल' पर गढ़ लिया गया है परन्तु हिन्दी साहित्य के अन्दर 'यथार्थवाद' का विकास एक विचारधारा के रूप में नहीं पाया जाता जैसा कि योरोप में हुआ। वस्तुत: प्रेमचन्द पूर्व युग की विशेषताओं के आधार पर हम केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि उपन्यासों का झुकाव मानव के जीवन संबंधी समस्याओं की ओर तो ही चला था परन्तु यथार्थवादी विचारधारा को कोई भी निश्चित रूप उस समय के उपन्यासकार नहीं दे पाये थे। उपन्यास साहित्य में यथार्थ को वास्तविक स्वरूप प्रेमचन्द जी के आने से ही मिला। इसलिए हिन्दी साहित्य में मुख्यत: यथार्थवाद का विकास प्रेमचन्द जी से मानना चाहिए, परन्तु उसके बहुत कुछ लक्षण हमें भारतेन्दु काल से दिखलायी पड़ने लग जाते हैं। भारतेन्दु जी की मूल प्रेरण राष्ट्रीय थी, परन्तु राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ उन्होंने जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। भारतेंदु की रचनात्मक दृष्टि अपने लेखन के शुरुआत से ही आलोचनात्मक थी । उन्होंने एक तरफ अंग्रेजी हुकूमत पर प्रहार किया तो दूसरी तरफ भारतीय जनता की अकर्मण्यता, आलस्य और काम चोरी पर भी चोट किया । भारतेंदु की दृष्टि प्रारंभ से ही यथरथपरक थी । यहां यह भी सत्य है की कथा साहित्य की कथा भूमि अपने उद्भव से ही यथार्थवादी थी विशेष कर नाटक। भारतेंदु के नाटक अपने

स्वरूप में राष्ट्रीय चेतना की मूलभूत संवेदनाओं के प्रचार प्रसार के उद्देश्य से ही पपरिचालित थी।

प्रेमचन्द युग के पश्चात प्रेमचंदोत्तर उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद के कई रूप देखने को मिलते हैं जैसे कि सामाजिक यथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, और यथार्थ के नये आयाम।

हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकाल से ही दिखाई देने लगती हैं। कबीर एक प्रकार से हिन्दी के प्रथम यथार्थवादी और आधुनिक कवि हैं । उनके समाज में जो खोखलापन घर कर गया था, उसका अत्यन्त सशक्त चित्रण उन्होंने अपने काव्य में किया है। जीवन की विकृतियाँ तथा कुरुपताएँ सर्वत्र उनके आक्रोश का लक्ष्य बनी है । कबीर के अतिरिक्त मीरा और तुलसी में भी यथार्थवाद की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अपने दृष्टिकोण में आदर्शवादी होते हुए भी वे सामाजिक जीवन की कटुताओं की ओर से अपनी आँखें नहीं फेर सके थे। यह सच है कि तुलसी ने आदर्श समाज की स्थापना के उद्देश्य से रामचरितमानस की रचना की थी, परंतु तुलसी आदर्श के साथ साथ तत्कालीन समाज के यथार्थ से भी नहीं बच पाए हैं । 'श्रीरामचरितमानस' के उत्तरकांड तथा 'विनय पत्रिका' के कुछ पदों में तुलसीदास की यथार्थवादी दृष्टि गहरे तक पैठी है।

आधुनिक अर्थ में यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य में प्रथम विकास प्रगतिवाद के माध्यम से हुआ। द्विवेदी युगीन आदर्शप्रियता तथा छायावादी काल्पनिक जगत के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने प्रगतिवादी साहित्य-सर्जन में यथार्थवाद को एक अपरिहार्य अंग

बना दिया। जिसके चलते कविता कहानी उपन्यास, नाटक आदि सभी रूपों में आधुनिक जीवन के गहरे संघर्षों विद्रुपों, अंतद्वंद्वों तथा कुरुपताओं का अंकन हुआ। इस युग के दो विद्वान 'मार्क्स' तथा फ्रायड ' ने अपने-अपने ढंग से यथार्थवाद के विकास में सहयोग दिया। माक्स ने सामाजिक जीवन के कटु यथार्थ की ओर संकेत किया और फ्रायड ने वैयक्तिक जीवन की निहित कुंठाओं की ओर ध्यान दिलाया। कुछ तो समय की आवश्यकता ने और कुछ इन दो चिन्तकों की विचारधारा ने यथार्थवाद को युग की अनिवार्य प्रवृत्ति बना दिया। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद की मौलिक शक्ति सम्भावना को ही लेकर विकसित हुई थी।

प्रगतिवाद के उपरान्त प्रयोगवाद को भी यथार्थवाद का दायरा मिला। एक प्रकार से प्रयोगवाद में यथार्थवाद की प्रवृत्ति कुछ और गहरी हुई। जीवन की तुच्छ से तुच्छ परिस्थिति को भी साहित्य में चित्रित करने योग्य समझा गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने यथार्थवाद को साहित्य में और अधिक ग्रहण करने योग्य बनाया । इस युद्ध में विज्ञान की सर्वोच्चता तो सिद्ध हो गई पर व्यक्ति और भी अकेला हो गया । धर्म, ईश्वर। आस्था और अनास्था जैसे प्रश्न अप्रासंगिक हो गए । व्यक्ति मशीनीकरण का शिकार हो गया और नैतिक-अनैतिक जैसे भेद मिटने लगे । मानवीय मूल्यों में इतना ह्रास इससे पहले देखने को नहीं मिला । इसमें व्यक्ति को एक तरफ जहां अस्तित्ववादी बनाया वही उनमें अलगाव, अजनबीपन, कुंठा, संत्रास, अवसाद को जन्म दिया । व्यक्ति क्षण में जीने लगा । व्यक्ति का क्षण में जीना उसकी उपलब्धि नहीं रही बल्कि इससे उसका जीवन और भी जटिल हो गया । हिंदी साहित्य में प्रयोगवाद, नई कविता,

नई कहानी, ऐसे ही मनोभाव और यथार्थ की भूमि से उपजी रचनात्मकता है । और इस प्रकार प्रयोगवाद ने इस मौलिक प्रवृत्ति को अपनी आधारशिला के रूप में स्वीकार किया। पर प्रयोगवादी यथार्थवाद के साथ एक व्यापक तथा उदार मानवता की भावना संयुक्त थी, जो आगे नई कविता के आंदोलन के साथ और अधिक विकसित हुई। वस्तुत: हिन्दी का आधुनिक यथार्थवाद साम्प्रदायिक न रहकर उत्त मानवतावादी प्रवृत्तियों के संयोग से साहित्य के क्षेत्र में अधिक कलात्मक तथा सामाजिक बन सका है।

यथार्थ के रूप

साहित्य में यथार्थवाद के कई रूप देखने को मिलते हैं जैसे कि सामाजिक यथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, प्रकृतवाद आदि।

(क) प्रकृतवाद

ऐतिहासिक दृष्टि से 'प्रकृतवाद' यथार्थवाद के बाद का आंदोलन है और वह 'यथार्थवाद' का सुधारक और इसी का विकसित रूप कहा जाता है। जब आदर्शवाद कल्पना के नाम पर काव्य को इस लोक से बहुत दूर खींच ले गया तो यही प्रवृत्ति भौतिक विज्ञान का बल लेकर यूरोपीय साहित्य में 'प्रकृतवाद' के नाम से प्रकट हुई। 'प्रकृतवाद' यथार्थवाद का विकसित रूप कहा जा सकता है। 'प्रकृतवाद' का जन्म फ़्रान्स में हुआ। इसको साहित्य में प्रतिष्ठित करने का श्रेय और सबसे पहले इसकी व्याख्या करने वाले प्रसिद्ध उपन्यासकार 'एमिल जोला' थे। जोला द्वारा रचित ग्रन्थ 'द रोमन एक्सपेरिमेन्टल' ही प्रकृतवाद का प्रथम प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

“प्रकृतवाद (नेचुरिलिज्म) की जन्मभूमि यूरोप का फांस देश माना जाता है। फांस के उन्नीसवीं शताब्दी के कथा लेखकों ने प्रकृतिवाद के विकास में अपनी साहित्य साधना समाप्ति की है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही (सन् 1836 में डेंगुयर द्वारा) यूरोप में चित्रण यंत्र अथवा 'फोटोग्राफ' का अविष्कार हुआ, जिसने साहित्य लेखकों में चौकस (इक्जैक्ट) प्रतिनिधियात्मक और वास्तविकता की अत्यन्त निकटवर्ती शैली अपनाने की प्रवृत्ति जागृत की।”[27]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'प्रकृतवाद’ की परिभाषा देते हुए लिखते है, “प्रकृतवाद इसे स्वीकार करता है कि मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी, उसमें पशु सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यों का त्यों वर्तमान है। प्रकृतवादी लेखक मनुष्य को काम, क्रोध आदि मनोरोगों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासकत-चेष्टाओं, अहंकार से उत्पन्न धार्मिक कृतियों का विशेष रूप से उल्लेख करता है।”[28]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने भी- “ प्रकृतवाद को यथार्थवाद के नाम पर विकसित हुई नवीन शैली माना है, जिसने क्रमशः जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनाएं प्रस्तुत की गई उनमें प्रायः विकृत

---

[27] ◌ॉ० परशुराम शुक्ल 'विरही' आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद, पृ० 336-337

[28] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० 27

एवं असंतुलित चरित्रों की जीवन गाथा रहा करती थी। प्रकृतिवाद एक प्रकार से औपचारिक प्रवृतियों का साधन है, जिसके द्वारा हम पड़े हुए बीच के प्रतिरोधों के विषय में उसकी सीमा तक सोचना आरंभ करते हैं तथा आधुनिक प्रतिक्रिया को साहित्य में रखकर कला का प्रदान करते हैं।"[29]

"जड विज्ञान की प्रगति हो जाने पर मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करनी आरम्भ कर दी और ज्यों-ज्यों प्रकृति पर मानव को विजय मिलती गई, उसका विश्वास ईश्वरीय विधान की ओर से हटने लगा। नास्तिकता का जो इतना प्रचार बढ़ा उसका मूल कारण मनुष्य की यह विजय ही है। इसके साथ ही दूसरी और नैतिकतावाद तथा मनोविज्ञान की भी प्रगति हुई। जिससे मनुष्य के अन्दर अथवा जीवन में वह कौन सा रहस्य छिपा है जिसके कारण वह संसार के अन्य जड पदार्थों से भिन्न है जबकि संसार की सभी जड़ वस्तुएँ अद्योगामिनी है, वे ऊपर से नीचे की ओर गिरती है। तब भी जीवांकुर नीचे से ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। जीव का जीव के प्रति आकर्षण भी अन्य संसार की जड़ वस्तुओं से भिन्न एक अनोखी वस्तु है। इन्हीं जिज्ञासाओं ने साहित्य में प्रकृतवाद को जन्म दिया।"[30]

(ख़) अतियथार्थवाद

प्रथम विश्व युद्ध के तनाव से ऊबकर पाठक एवं लेखक कुछ आरामदेह, कुछ संतुष्टि देने वाले साहित्य की खोज करने लगे जो यथार्थ की कठोरता से निजात दिला सके। लेखकों

---

[29] त्रिभुवन सिंह, यथार्थवाद और उपन्यास 54

[30] डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० 221

ने इस यथार्थ से हटकर सपनों की दुनिया बसाने का प्रयत्न किया। इसी प्रयास को अतियथार्थवाद का नाम दिया गया। अति यथार्थवाद का जन्म सन् 1919 में फांस में हुआ। इसके प्रतिनिधि आंद्रे ब्रेतो थे। अति यथार्थ की धारणा का मूल केंद्र प्रचलित मान्यताओं के खोखलेपन पर प्रहार करना एवं स्वतंत्रता से अभिव्यक्त करना है। दूसरे शब्दों में अभिव्यक्ति जब समाज की मर्यादा और सीमाओं को तोड़कर अत्यंत ही प्राकृतिक रुप में सामने आती है तो अति-यथार्थ कहते हैं।

जहाँ से प्रकृतवाद की सीमा समाप्त होती है, वहीं से अतियथार्थवाद की सीमा आरम्भ होती है। शोभा खेमानी लिखती है, "अतियथार्थवादी अनीश्वरवादी होता है। ईश्वर की सत्ता पूर्ण व्यवस्थित ढंग से संचालित हो रही है, किन्तु यथार्थवादी विचारक प्रकृति तथा समाज दोनों ही क्षेत्रों में विद्रोह करता हुआ अपने स्वच्छन्द विचारों को प्रतिष्ठित करना चाहता है। वह चिंतन और अभिव्यक्ति शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में कलाकार की उन्मुक्तता का समर्थक है। "[31]

अतियथार्थवादी साहित्य ने समाज की मर्यादा एवं परंपराओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर अत्यन्त ही नग्न, विभत्स, घृणित एवं कामासक्त वासनाओं को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। अत: ऐसा साहित्य समाज में भ्रष्टता, अश्लीलता और यौनाचारों को बढ़ावा देने वाला साहित्य हो सकता है।

---

[31] शोभा खेमानी, आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थबोध, पृ० 95

यथार्थ, प्रकृतिवाद और अतियथार्थवाद क्रमशः तीन सोपानों को अभिव्यक्त करती है। रीतिकाल की कामुकता और विश्व युद्ध उत्तर काल के मनोविश्लेषण वादियों की यथार्थ, प्रकृतिवादी वह अतियथार्थवादी धाराओं में व्यक्त कामुकता की भिन्नता इसलिए है कि एक राजा व सामंतों की सुविधाभोगी विलास को रूपायित करता है तो दूसरा कुंठा अनुपलब्धि अभाव एवं परिवेश मत जटिलता से उत्पन्न कामुकता को भी और सहज प्रतीकों से व्यक्त करता है। यह असहजता परिवेश एवं अनुभव की मित्रता से उपजी वस्तु है।

जीवन का वास्तविक रुप ही यथार्थ है।किंतु साहित्य में उसका चित्र ठीक वैसा ही नहीं होता वर्ण कला मात्र की उपयोगिता को चरितार्थ करने हेतु वह कलात्मक रूप में उपस्थित होता है। विशाल संस्कृति एवं मनुष्य के समूह से जो समाज बनता है उसके सत्य को मात्र यथार्थ शब्द में समाहित नहीं किया जा सकता। वरन वह यथार्थ के अनेकानेक रूपों में समाहित होता है।

अध्याय - चार

निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त यथार्थ

"यथार्थ का रचना के साथ क्या संबंध होना चाहिए इस पर अनेक दृष्टिओं से विचार किया गया है। यथार्थ को रचना में निर्धारित करने वाला तत्व भूगोल या समाजशास्त्र या राजनीति है या एक व्यक्ति की संवेदनशील दृष्टि। अवश्य ही व्यक्ति की दृष्टि ही यथार्थ के अनुभव को रचना का अनुभव बनाती है। यदि बाह्य तर्कों से रचना में यथार्थ को समग्रता में आयत करना संभव होता तो यथार्थ का रचनात्मक परिपाक बहुत आसान हो जाता, जबकि वास्तविकता इसकी गवाही नहीं देती। यथार्थ को वह जीवंत सार्थकता रचना के भीतर तब तक नहीं मिलती जब तक उसके प्रति व्यक्ति की संवेदना सीधे प्रतिकृत ना हो जाए।"[1]

निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ

सामाजिक यथार्थ, समाज में होने वाले परिवर्तन चाहे वह सामाजिक हो आर्थिक, नैतिक, या धार्मिक सभी का चित्रण करता है। वह समाज के गुण और अवगुण सभी को रेखांकित करता है। वह केवल समाज के सुंदर और उत्कृष्ट रूपों को चित्रित नहीं करता वह समाज में व्याप्त वैमनस्य, कुरीतियां, अराजकता सभी को रेखांकित करता है। यह समाज में व्याप्त सत्य को उसकी संपूर्णता में प्रकट करने में विश्वास रखता है। इसलिए यहां समाज

---

[1] डॉ. परमानंद श्रीवास्तव, *उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1976, पृ. 89

का बदलता स्वरूप, उसकी मान्यताएं, उसके बदलते मानवीय मूल्य, पारिवारिक संरचना, जीवन शैली, रिश्तो के बदलते स्वरूप, सभी पर बात करता है।

सामाजिक यथार्थ दरअसल दो शब्दों के मिलने से बना है- समाज और यथार्थ। दोनों ही शब्द अपने आप में संपूर्ण भी हैं और व्यापक भी। समाज जहां शाब्दिक रूप से समूह या वर्ग को व्यंजित करता है, वही मनुष्य के मनुष्य होने के अस्तित्व की परिभाषा को भी गढ़ता है। समाज की प्रथम इकाई परिवार है। परिवार वह प्रारंभिक संस्था है जहां बच्चा जन्म उपरांत संस्कार और शिक्षा ग्रहण कर भविष्य की ओर अग्रसर होता है।

कोई भी साहित्यकार अपने परिवेश से अलग रह कर रचनाकर्म नहीं कर सकता। अपनी रचनाओं में जीवंतता एवं प्रामाणिकता लाने के लिए वह किसी न किसी रूप में अपने आसपास के वातावरण से जुड़ा होता है। सामाजिक यथार्थ समाज के परिवर्तनशील परिवेश के विभिन्न रूपों, उसके बदलते हुए स्वरूप के साथ रखने की कोशिश करता है।

एक रचनाकार समाज, जीवन और मनुष्य को अधिक निकटता से देखने और समझने का प्रयास करता है और इसी क्रम में वह सामाजिक जीवन सत्य को प्रकट करने वाले तत्वों को अपनी रचना के माध्यम से प्रस्तुत करता है।

निर्मल जी के "लेखन में समकालीन मनुष्य के दुख-सुख की जैसी गहरी, मार्मिक और अद्‌भुत तलाश संभव हो सकी है, वह मुझे हमारे समय, समाज और संस्कृति की दुर्लभ निधि जान पड़ती है। हमारी सभ्यता और संस्कृति, उनके बीच की सृजनात्मक सक्रियता और समकालीन जीवन से बाहर आते, सौंदर्य और नैतिकता से जुड़े सवाल पर,

उनकी लगातार साधना, कभी-कभी मुझे रूसी निर्देशक तारकोवसकी के कृतित्व की याद दिलाती है, जिन्होंने अपने समय और अपने समय की कला को बदलने की महत्वपूर्ण कोशिशें की थी।"[2]

निर्मल वर्मा की कहानियां स्वतंत्रता पश्चात की कहानियां हैं। वे 50 के दशक के रचनाकार हैं। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज प्राचीन आदर्शों और मूल्यों के टूटने और नवीन आदर्शों एवं नए मूल्यों में सामंजस्य बिठाने में असमर्थ सिद्ध होने लगा था। ऐसे समय में नई कहानी के दौर के रचनाकारों की रचनाओं में अकेलेपन, अजनबीपन, भय, संत्रास, मृत्यु बोध, निर्वासन, संबंधों की टूटन, पारिवारिक संबंधों में विघटन, नैतिक पतन जैसी कुंठाग्रस्त परिस्थितियां ज्यादा महत्व पाती गई। और निर्मल वर्मा को तो डॉक्टर नामवर सिंह ने नई कहानी का सूत्रधार ही कहा है। जाहिर है ऐसे में उनकी रचनाओं को इन तत्वों से अलग कर नहीं देखा जा सकता।परंतु अब यहां एक प्रश्न यह भी है कि क्या ऐसे में निर्मल वर्मा की रचनाएं सिर्फ इन्हीं नकारात्मक तत्वों की गठरी है? यह सच है कि निर्मल वर्मा की रचनाओं में सामाजिक तत्व उन रूपों में नहीं है जो सामान्यतः किसी रचना का अभीष्ट होता है।

स्वतंत्रता के बाद पारिवार के विघटन ने एक तरह से संरक्षित परिवार को छिन्न-भिन्न कर दिया।उससे उत्पन्न पीड़ा, विषाद पिता और पुत्र के बीच का द्वंद, स्त्री और पुरुष के

---

[2] जयशंकर, "विकल तीर्थयात्री के साथ", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 136

संबंधों के बदलते मानदंड, गांव से शहर की ओर पलायन के क्रम में उनके पारंपरिक जीवन शैली में आए परिवर्तनों ने नई समस्याएं उत्पन्न की। निर्मल ने सामाजिक जीवन के यथार्थ के साथ-साथ किशोर जीवन पर उनकी मानसिक स्थितियों में आए बदलाव उनकी निश्छल संस्मरणों और उनकी परेशानियों को भी रचनाओं में जगह दी। यह सिर्फ बच्चों के मनोरंजन और क्रीड़ा तक सीमित नहीं था वरन उनकी समस्याओं से भी जुड़ा था। यही नहीं बीमारी, बुढ़ापा, मृत्यु और आत्महत्या जैसी समस्याएं जो आज के समाज का कटु यथार्थ है, उस पर भी निर्मल जी ने विस्तार से लिखा है।

(क) पारिवारिक जीवन

निर्मल वर्मा की कहानियों का समाज एक आदर्श समाज नहीं है। यहां समाज तीव्रता से बदल रहा है। पारिवारिक मूल्य टूट रहे हैं, ज्यादातर परिवार एकल परिवार है। संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं और अगर उपस्थित भी हैं तो सिर्फ स्वार्थपरकता के लिए, ना उन में प्रेम है न संबंधों में विश्वास। 'जाले' कहानी ऐसी ही कहानी है। यहां समय के साथ संबंधों में आए बदलावों और दूरी को प्रकट किया गया है। कभी पांच भाई बहनों का भरा पूरा एक परिवार था। सिविल लाइंस में उनका बड़ा सा बंगला था। माता पिता की यादें थी, भाई बहनों का आपस में प्रेम था। परंतु अब सब खत्म हो चुका है। छोटा भाई मर चुका है। बड़े भाई की पत्नी मर चुकी है। दो बहनों की गृहस्थी है, उसके अपने

झमेले हैं। छोटी बहन कभी स्थाई रूप से अपनी गृहस्थी बसा ही नहीं पाई। बड़े भाई ने सभी बहनों को बुलाया था कि इस बंगले को बेचा जा सके।

"अचानक एक झटका-सा लगा था। भैया ने सहसा बंगले को छोड़ने का फैसला किया था- किसी को नहीं मालूम, वह कहां जाएंगे, अपनी जिंदगी के बाकी दिन कहां बिताएंगे? शायद इसलिए उन्होंने अपनी तीनों बहनों को बुलाया था- वह नहीं चाहते थे कि इस उमर में कोई ऐसा काम हो जिससे किसी को ठेस पहुंचे। जीजी को लगा, जैसे कहीं वह भी इसके लिए उत्तरदाई है- सबसे बड़ी बहन होने के नाते उन्हें क्या घर इस तरह भैया पर छोड़ देना चाहिए था, जबकि भाभी की मृत्यु के बाद वह इतना अकेले रह गए थे?"[3] तीनों बहन अब इकट्ठे हैं और पुराने समय को याद कर रही हैं। कभी यह घर उनके सुख दुख का साथी था आज उस घर को बेचने के लिए सभी इकट्ठे हुए हैं। "वे मकान के हर हिस्से को कुछ वैसी ही लोलुप आंखों से परख रहे हैं जैसे कसाई किसी बूढ़े जानवर को। भैया जो कुछ उन्हें बताते जाते हैं एक आदमी उसे अपनी नोट बुक में दर्ज किए जाता है- कितना बाग बगीचा है, आउट हाउस की कितनी कोठारियाँ, कितनी एकड़ जमीन, जामुन, इमली और सेमल के कितने पेड़? याद आया, जब वह स्कूल से लौटती थी, तो बरामदे में बस्ता पटक कर इन्हीं पेड़ों के पीछे छिप जाती थी । मां खाने के लिए बुलाती तो खोई-सी खड़ी रहती खड़ी रहती; बस्ता तो यही का यही पड़ा है, आप पता नहीं कहां

---

[3] निर्मल वर्मा, 'जाले', *सूखा तथा अन्य कहानियां*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 221

कुदक्कड़े मार रही हैं- मां उसे बुलाती और उनकी आवाज हवा में तैरती हुई उसके पास आती और वह उससे बची हुई कभी एक पेड़- कभी दूसरे पेड़ के पीछे छिपती जाती ।"[4]

यह कहानी मानवीय संवेदना और समय के बदलते झंझावातों की दृष्टि से उत्कृष्ट है। साथ ही टूटते सामंती पारिवारिक मूल्य और उनमें आ रही संवेदनहीनता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

टूटते हुए पारिवारिक मूल्यों को दर्शाती एक और महत्वपूर्ण कहानी है 'माया दर्पण'। कहानी की नायिका है 'तरन'। 'तरन' एक बहुत बड़े जमींदार घराने की लड़की है। आजादी के बाद पिता की जमींदारी छिन चुकी है लेकिन वह आज भी अपने पुराने समय को याद करते हुए अतीत में खो जाते हैं। अकेले अपने कमरे में घंटों पुराने दिनों के तस्वीर को देखते रहते हैं। उन पर जमी हुई धूल को साफ करते हैं। "कोई शक्ल है, जो व्यतीत के धूमिल पर्दे पर दिए की लौ-सी झिलमिला जाती है। जॉर्ज पंचम का सिल्वर जुबली के समारोह के अवसर पर... बरसों पहले जो फोटो लिया गया था, बाबू मंत्रमुग्ध होकर अपलक उसे देख रहे थे। रियासत के अंग्रेजी रेजिडेंट और अन्य राज्य अधिकारियों के बीच जहां दीवान साहब बैठे हैं, फोटो के उस कोने पर बाबू की आंखें फिर, स्तंभित-सी जमी रह गई हैं, मानो वो अपने को ही पहचान पाने का प्रयास कर रहे हो।"[5]

तरनअपने पिता को इस अवस्था में देख घबरा जाती है।

---

[4] वही, पृ. 229

[5] निर्मल वर्मा, 'मायादर्पण', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 44

"बाबू ने धीरे से सिर ऊपर उठाया, तरन को देखा,... और देखते रहे।

-तुम यहां क्यों आई, तरन?- उनका गला भर्रा- सा आया, आंखों में कातरता छलछला उठी।

तरन कमरे से बाहर चली आई। देर तक अंधेरे बरामदे में खड़ी रही। एक भयावह-सा विचार उसके मस्तिष्क में धीरे-धीरे रेंगता रहा।बाबू उसे कभी नहीं छोड़ेंगे और वह उनसे कभी अलग नहीं हो सकेगी..."[6]

तरन की माँ उसके और उसके पिता के बीच की कड़ी थी। मां की मृत्यु और भाई के पूरे परिवार को छोड़कर जाने के बाद इस परिवार की सारी सुख समृद्धि भी चली गई। परिवार में आए स्वार्थपरकता को दर्शाने वाली ऐसी ही एक और महत्वपूर्ण कहानी है 'कव्वे और काला पानी'। इस कहानी में पिता की मृत्यु के बाद सबसे छोटे भाई को सन्यासी भाई के पास इसलिए भेजा जाता है ताकि वह उस भाई से मकान के कागजात पर उसके हस्ताक्षर ले सके। सन्यासी भाई जो सन्यासी हो चुका है पर उसके भीतर घर की यादें अभी भी जीवित हैं और अपनी इन्हीं यादों के आकर्षण में वह अपने घर चिट्ठी भेज देता है।

"फिर इतने दिनों बाद चिट्ठी भेजने का क्या फायदा था?" मैंने पूछा।

मैं कुछ देर चुप खड़े रहे। "हां, शायद नहीं भेजनी चाहिए थी लेकिन..." उन्होंने अंधेरे में एक लंबी सांस ली।

---

[6] वही, पृ. 45

"मुझे दस साल लगे कि तुम्हें कुछ लिख सकूं; मैंने सोचा, अब तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि मैं जीवित हूं या नहीं..."

कुछ ऐसी उदास निस्संगता थी, जो हमें आदमियों में नहीं- पेड़ और पत्थरों और पानी में मिलती है- जो रिश्तो की लहूलुहान पीड़ा से बाहर जान पड़ती है- क्या यह निस्संगता उन्होंने पिछले वर्षों के अकेलेपन में अर्जित की थी?"[7]

परंतु उनके घर वाले यह सोच कर घबरा जाते हैं कि कहीं सन्यासी भाई जीवित है तो उनके संपत्ति में हिस्सा लेने ना पहुंचे। रिश्तो की संवेदनहीनता को दर्शाती इस कहानी पर रामचंद्र गांधी ने अपने लेख में कुछ महत्वपूर्ण टिप्पणी की है और उनके अनुसार - "मुझे लगता है कि कुछ शताब्दियों से, जब से विदेशी हुकूमत भारत में आई, तब से हमारे 'पिता' की मृत्यु हो गई। आधुनिक युग वहां है जहां 'पिता की मृत्यु' हो गयी है । आधुनिकता का मतलब यही है कि अब भाई या बहन या माँ ही पिता बन सकते हैं, साधना के द्वारा। वह पुराना युग अब नहीं है जिसमें पिता थे और जो हम सब को बचाए रखते थे। उनको तो हम ने मार डाला। तो इस तरह कुछ शताब्दियों से भारत में पिता की मृत्यु हो गई है। और कुछ लोग हैं जो भाग गए हैं, या डर गए हैं, अदृश्य हैं, जो इस आधुनिकता में शामिल नहीं है, शामिल नहीं होना चाहते या शामिल हो नहीं पाते- ये मुनिगण हैं।वे भी घर पर नहीं है। वे गुलाम देश के 'पिता हीन घर' मैं रहना नहीं चाहते।

---

[7] निर्मल वर्मा, "कव्वे और काला पानी*", कव्वे और काला पानी,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण 2009, पृ. 168-69

वे कहीं 'और' चले गए हैं; जंगल में, पहाड़ में, मोक्ष चेतना में। और मां, कह ले देश, बहुत परेशान है। वह उन्हें ढूंढ रहा है- मुर्दों में ढूंढ रहा है, किसी ऐतिहासिक स्मृति में ढूंढ रहा है, अस्पतालों में ढूंढ रहा है- शायद बीमार हो, 'आईडियोलॉजी' कि किसी दवाई से शायद ठीक हो जाए, पर मिल तो जाएं। नहीं मिलते।"[8]

'बीच बहस में' पिता और पुत्र के बीच ही नहीं मानवीय मूल्यों को भी श्रद्धांजलि देती कहानी है। आज का सामाजिक यथार्थ है किसी के पास इतना समय नहीं है कि वह मरते हुए पिता के पास बैठ सकें। कथावाचक का बूढा पिता अस्पताल में भर्ती है।कोई नहीं जानता कौन सी रात उनकी आखिरी रात होगी। कथा नायक और उसके भाई के अस्पताल में रहने की शिफ्ट बंधी है। बीच बीच में माँ आ जाती है। कथावाचक को लगता है कि वह अपने पिता की मृत्यु का उसी तरह प्रतीक्षा कर रहा है जैसे कभी उसके पिता ने उसके आने की की होगी। बूढ़े पिता अस्पताल में घबराते हैं। वह घर जाना चाहते हैं। अस्पताल में उन्हें लगता है कि सब उनका इंतजार कर रहे हैं। इंतजार का अंत तब होता है जब बेटे से बहस के दौरान ही उनकी मृत्यु हो जाती है।

वृद्धों की अवस्था और बदलते हुए पारिवारिक मूल्यों को दर्शाती एक और महत्वपूर्ण कहानी है 'सुबह की सैर'। इस कहानी में तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को उसकी नग्नता के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचंद के समय का सामाजिक यथार्थ वृद्ध को समाज में सम्मान और जगह दिलाने के लिए किया गया पहल था जबकि निर्मल के समय तक

---

[8] रामचंद्र गांधी, "कव्वे और काला पानी: एक सहज पाठ", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990 पृ. 147-148

सामाजिक स्थिति भिन्न है। शहरों में ऐसे वृद्धों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है जो अकेले रह रहे हैं। उनके बेटे या बेटियां विदेशों में सेटल है और इन्हें अपने माता पिता से कोई मतलब नहीं है।

"'सुबह की सैर' मैं एक बूढ़ा कर्नल है, रिटायर्ड है, बड़ा सा बंगला है, बेटे विदेश में हैं । वह दैनिक चर्या में गिरफ्तार है। भयावह अकेलापन। नौकर तो है लेकिन वह अपना बेटा तो नहीं है। वह बूढ़ा कर्नल परिस्थिति परिभाषित चरित्र है। वास्तविक परिस्थितियों में वास्तविक चरित्र है। उसका अकेलापन चाहे जितना मूलभूत और अनिवार्य हो, कारण परिस्थितियां ही हैं। उस अकेलेपन में वह अपनी अस्मिता का सार्थक वैभव नहीं देख पाता। जब अकेलापन असह्य हो जाता है वह आत्महत्या कर लेता है।"[9]

"निहालचंद के गले में रस्सी फंसी थी और रस्सी का सिरा पेड़ की टहनी से बंधा था ।टहनी हिल रही थी और निहालचंद लटक रहे थे। नीचे घास पर उनका थैला, उनकी थरमस, उनकी आर्मी का कोट पड़ा था, दोनों से जेबें उघड़ी पड़ी थी-नंगी और उल्टी, बिल्कुल खाली। खट- खट... खट... उसे अजीब- सी आवाज सुनाई दी, सिर उठाया, तो बच्चों के कूदने वाली रस्सी दिखाई दी, चांदनी मैं हिलते हुए दो नन्हे पीले बेलन, जो पहनी के हिलने से बार-बार निहालचंद्र के झूलते सिर से टकरा जाते थे।"[10]

---

[9] नित्यानंद तिवारी "अकेलेपन से सन्यासवाद की ओर", प्रेम सिंह (सं), *निर्मल वर्मा: सृजन और चिंतन*, फिफ्थ डायमेंशन पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 1989, पृ. 31

[10] निर्मल वर्मा, "सुबह की सैर", *कव्वे और काला पानी,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण 2009, पृ. 104-5

(ख) स्त्री-पुरुष संबंध

आधुनिक जीवन परिवेश में आए परिवर्तन ने स्त्री पुरुष संबंधों के मायने भी बदल डाले। वैयक्तिक स्वतंत्रता की चाह ने पति-पत्नी के संबंधों को भी काफी प्रभावित किया। स्त्री-पुरुष का संबंध सिर्फ पति-पत्नी के संबंधों तक सीमित नहीं।

आधुनिक जीवन परिवेश में आए परिवर्तन के परिणाम स्वरुप पारिवारिक संबंध बदले हैं। फलतः पति-पत्नी के संबंधों में दरारें बढ़ी हैं, टूटन पैदा हुई है और इससे संबंधों में बिखराव उत्पन्न हुआ है। यह बिखराव अनायास नहीं है।शहरी और महानगरीय जीवन शैली ने जहां व्यक्ति को भौतिकवादी बनाया वही बढ़ती हुई महत्वकांक्षा और जरूरतों ने व्यक्ति को उपभोक्तावादी भी बनाया। बढ़ती जरूरतों और महंगाई ने पति-पत्नी दोनों को कार्य करने पर विवश किया इससे जहां काम के दबाव ने दोनों के बीच भावनात्मक लगाव को कम किया वही समाया भाव ने उनके बच्चों को प्रभावित किया। बाहरी जीवन में धीरे-धीरे आंतरिक जीवन को भी लील लिया। आपस में अविश्वास और किसी तीसरे की उपस्थिति में पारंपरिक पारिवारिक मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर दिया। निर्मल जी की अधिकांश रचनाओं में स्त्री-पुरुष संबंधों में तीसरा किसी न किसी रूप में उपस्थित है। 'धागे' निर्मल जी की ऐसी ही कहानी है। यह त्रिकोणीय प्रेम कहानी है। मीनू और केशी का वैवाहिक जीवन नाम मात्र का है।दोनों विवाहित हैं लेकिन उनका जीवन अलग अलग है। रूनी मीनू की बहन है। वह केशी से प्रेम करती है। केशी भी उस से प्रेम करता है

लेकिन कोई किसी से कुछ कहता नहीं। मीनू सब कुछ जानकर भी अनजान बनने की कोशिश करती है। इन तीनों के जीवन में आए ठहराव का कहीं कोई हल नहीं दिखता।

'धूप का एक टुकड़ा' कहानी की नायिका बिना किसी रिस्क के अकेलेपन को चुन लेती है। संबंधों की निर्जीवता और ठंडेपन से नायिका इतना डर जाती है कि वह किसी बहुत बुरी अवस्था में पहुंचे इससे पहले वह सब कुछ छोड़ कर चली जाती है। ऐसा नहीं है कि उसके वैवाहिक जीवन में प्रेम नहीं था पर जिस रात उसे अहसास होता है कि उसकी और उसके पति के बीच किसी तीसरे का कोई चिह्न है बिना कुछ कहे उन संबंधों को खत्म कर लेती है।

"मैं रात भर उसके सिरहाने बैठी रही और मेरे हाथ मुर्दा होकर उसकी डेट पर पड़े रहे... मुझे यह भयानक सा लगा कि हम दोनों के बीच जो खालीपन आ गया था, वह मैं किसी से नहीं कह सकती। जी हां- अपने वकील से भी नहीं, जिन्हें मैं अरसे से जानती थी।"[11]

निर्मल जी की कहानियों में यह स्वर कई रूपों में कई बार उपस्थित है कि क्या एक व्यक्ति के साथ पूरी जिंदगी काटना आसान है? विवाह जैसी संस्था पर यह प्रश्न चिन्ह आज ज्यादा प्रासंगिक है।'धूप एक का टुकड़ा'कहानी की एक पंक्ति है- "मैंने सुना है, कुछ ऐसे देश हैं, जहां जब तक लोग नशे में धुत नहीं हो जाते, तब तक विवाह करने का फैसला नहीं लेते... और बाद में उन्हें उसके बारे में कुछ याद नहीं रहता। नहीं जी, मेरा मतलब ऐसे अनुभव से नहीं था। मेरा मतलब था, क्या आप उस क्षण को याद कर सकते

---

[11] निर्मल वर्मा, "धूप एक का टुकड़ा", *कव्वे और काला पानी,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण 2009, पृ 19

हैं, जब आप एकाएक यह फैसला कर लेते हैं कि आप अलग न रहकर किसी दूसरे के साथ रहेंगे... जिंदगी भर।"[12]

स्त्री पुरुष का संबंध सिर्फ पति पत्नी का संबंध नहीं है। परिंदे कहानी की लतिका अपने उस प्रेमी की याद में जीती है जिसके बारे में उसे पता है कि वह कभी नहीं आएगा। अकेलापन यहां एक मूल्य का रूप अख्तियार कर चुका है जहां व्यक्ति उसी में खुश रहता है। 'मायादर्पण' की तरन के मन में इंजीनियर के प्रति प्रेम है पर वह प्रेम कैसा है? उसका व्यवहारिक रूप क्या है? और सही मायने में प्रेम है ही क्या? जैसे कई सवालों के बीच तरन अकेलेपन को चुनती है। वह जानती है कि वह अपने पिता को नहीं छोड़ सकती। तीसरा गवाह कहानी की नायिका नीरजा कोर्ट मैरिज करने के लिए जाती है और तीसरे गवाह को आने में विलंब के बीच ही वह विवाह नहीं करने का निर्णय लेती है। विवाह के समय अंतिम क्षण में उसके द्वारा लिया गया निर्णय दरअसल उस के डर को दर्शाता है। यह डर उस समाज की उत्पत्ति है जिसने स्त्रियों को परतंत्र कर रखा है। 'एक दिन का मेहमान' कहानी एक ऐसे दंपत्ति की कहानी है जहां उसके पति के जीवन में आई दूसरी लड़की के कारण उनका रिश्ता खत्म हो चुका है। इन दोनों की एक बेटी भी है जो अपनी मां और पिता दोनों से बहुत प्यार करती है। वह अपने माता पिता के संबंधों के कारण समय से पहले ही समझदार हो चुकी है। जब उसका पिता उसके घर आता है, मां और पिता के बीच के तनाव को वह भाँप लेती है और अपने पिता के लिए टैक्सी मंगवा लेती

[12] वही, पृ 14

है ताकि घर के बोझिल वातावरण से बचा जा सके जो उसके पिता के आने से उस घर में उत्पन्न हो गया था।

“पापा, लड़की के हाथ में कागज का पूरजा था, “यह होटल का नाम है, टैक्सी तुम्हें सिर्फ दस मिनट में पहुंचा देगी।”

उसने लड़की को अपने पास खींच लिया और कागज जेब में रख लिया। कुछ देर तक तीनों चुप बैठे रहे, जैसे बरसों पहले यात्रा पर निकलने से पहले घर के सब प्राणी एक साथ सिमट कर चुप बैठ जाते थे।”[13]

‘सूखा’ कहानी एक रिटायर्ड और प्रसिद्ध प्रोफेसर डॉक्टर देव और नई लेक्चरर बनी लड़की शकुन के बीच के रिश्ते को बयां करने वाली कहानी है। यह कहानी प्लेटोनिक प्रेम कहानी जैसी है।डॉ देव के व्यक्तित्व के प्रति शकुन का आकर्षण जहां फिल्मी है वही डॉक्टर देव की चुप्पी इस कहानी में शकुन और उनके बीच के रिश्ते को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर पाता। दरअसल यहां सूखा दोनों के जीवन में है। शकुन जहाँ नई पीढ़ी की आत्मनिर्भर लड़की है जो अपने और अपने जीवन में मस्त है जहां तीसरे का कोई स्कोप नहीं है वही डॉक्टर देव ऐसे बुद्धिजीवी के प्रतीक हैं जो बौद्धिक दुनिया में तो बहुत आगे निकल चुके है पर इस क्रम में वह अपने घर परिवार से कट चुके हैं।

इस तरह निर्मल जी की कहानियों में स्त्री पुरुष संबंधों के कई शेड्स मौजूद हैं।

---

[13] निर्मल वर्मा, “एक दिन का मेहमान”, *कव्वे और काला पानी,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण 2009, पृ. 220

(ग़) बेरोजगारी

बेरोजगारी वर्तमान समय की सबसे बड़ी चुनौती के रूप में उपस्थित है। आजादी के बाद युवाओं में यह जोश था कि अब उनका देश स्वतंत्र है और अब रोजगार की संभावनाएं भी बढ़ेगी। परंतु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। भारतीय समाज ने दोहरा मार सहा। एक तरफ अभी पूरी तरह से ग्रामीण सामाजिक ढांचा बना रहा वहीं औद्योगीकरण और शहरीकरण की तेजी के कारण गांव से शहर की ओर युवाओं का पलायन एक समस्या बन कर उभरा। साथ ही पढ़े लिखे युवाओं के लिए रोजगार की संभावनाओं की कमी ने उनके भीतर पराजय, घुटन और अजनबीपन जैसे भाव भर दिया।

'माया का मर्म' का युवक बेरोजगारी और बेकारी के कारण घुटता रहता है। ऐसे ही एक दिन अपने कमरे में अंधेरे और भीतर की घुटन से थोड़ी देर की मुक्ति के लिए घर से बाहर निकलता है जहां उसकी पहचान एक बच्ची से होती है। बच्ची का नाम है लता माथुर। थोड़ी देर के लिए युवक लता की मीठी मीठी बातों को सुनकर खुद भी बच्चा बन जाता है और अपने आप को भूल कर थोड़ा हल्का महसूस करता है। "मैंने पहली बार बेरोजगारी के लंबे और उदास अरसे पर से दरिद्रता की रात को बिना दर्द के कुरेद दिया। जो अभाव की रिक्तता अब तक छूटी थी, वह अब भी है, किंतु जैसे वह अपनी न रहकर पराई बन गई है, जिसे मैं बाहर से तटस्थ भाव से देख सकता हूं- जिसने अब छुट्टी का सहज भाव अपना लिया है।"[14]

---

[14] निर्मल वर्मा, 'माया का मर्म', *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 32

इसी तरह 'सितंबर की शाम' का नायक जो 27 वर्ष का है। इस कहानी में कई बार उसकी उम्र का जिक्र है- "सितंबर, 1955 की शाम- आयु सत्ताइस वर्ष- एक युवक तितली को घास पर उड़ता हुआ देख रहा है।"[15] वह बेरोजगारी से जूझ रहा है। लेकिन वह किसी से मदद लेने को तैयार नहीं है। उसकी बहन और उसका जीजा इसी शहर में रहते हैं।बहन उसकी खोज खबर लेना चाहती है। वहचाहती है कि उसका भाई उससे कुछ मदद ले और कुछ काम करें लेकिन वह जानती है कि वह बहुत ही स्वाभिमानी है वह उससे कुछ नहीं लेगा। वह अंततः यह भी कहती है कि मां परेशान है कम से कम वह घर ही लौट जाए या वह किसी और शहर चला जाए कम से कम वह चैन से तो रहेगी। दरअसल यह परिस्थिति उस दौर के पढ़े-लिखे युवकों की थी जो आजादी के पूर्व और आजादी के समय किशोरावस्था में थे उन्हें लगता था की आजादी के बाद बहुत कुछ बदल जाएगा। उनके पास रोजगार के पर्याप्त अवसर होंगे। परंतु ऐसा कुछ हुआ नहीं। नई कहानी के दौर के लगभग रचनाकारों ने किसी न किसी रूप में इस समस्या पर जरूर लिखा है बेशक उसका स्वरूप भिन्न हो। मोहन राकेश की 'मंदी', अमरकांत के 'दोपहर का भोजन' या 'डिप्टी कलक्टरी' आदि में ऐसे ही प्रश्न है। एक निरक्षर व्यक्ति या साधारण पृष्ठभूमि के युवकों के लिए कोई भी काम करना फिर भी आसान होता है भारतीय परिप्रेक्ष्य में ज्यादा पढ़े लिखे युवाओं के लिए रोजगार के अवसर और भी सिमटते चले जाते हैं।

---

[15] निर्मल वर्मा, 'सितम्बर की एक शाम', *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 99

'पिक्चर पोस्टकार्ड' में इस बेरोजगारी के सवाल कोपरेश निक्की और सीडी तीन युवकों के माध्यम से दिखाया गया है। इस कहानी में बेकारी का सवाल ज्यादा उभर कर आया है।परेश कभी कम्युनिस्ट था अब वह बुक रिव्यू प्रूफ रीडिंग के द्वारा अपना कुछ खर्च निकालता है। सीडी आइ. ए. एस. की तैयारी कर रहा होता है वह अपनी आंटी के घर मसूरी नहीं जाता वह कहता है कि इस बार कंपटीशन में रह गया तो ओवरएज हो जाऊंगा। यहीं रह कर तैयारी करनी है। निकी थिएटर में काम करता है।परेश उससे कहता है कि वह किसी प्रोफेशनल थिएटर में क्यों नहीं चला जाता या कोई स्कॉलरशिप के लिए कोशिश क्यों नहीं करता। निक्की कहता है कि उससे यह सब नहीं होगा।शायद वह कुछ भी नहीं कर पाएगा।

'लंदन की एक रात' में तीन बेरोजगार पात्र हैं। तीनों पर अलग-अलग देशों से लंदन आए हैं। यहां उन्हें जीवन के कटु अनुभवों का सामना करना पड़ता है। काम पाने के लिए बेरोजगार युवकों की भीड़ रेरी बन कर खड़ी होती है- "किंतु मेरा अनुमान सही न था। वहां पहले से ही बीस-पच्चीस बेरोजगार युवकों की भीड़ जमा थी। अंग्रेज लड़के, कुछ छात्र, जो देखने में बर्मी जान पड़ते थे, दक्षिण अफ्रीका और वेस्टइंडीज के नीग्रो- सब अलग-अलग गुच्छों में खड़े थे।सबकी आंखें गेट पर टिकी थी। कुछ के चेहरे जाने पहचाने लगते थे। उन्हें शायद कल रात देखा था। उन सबकी आंखें मुझ पर उठ आई, खामोश और तनी हुई। मुझे लगा, जैसे उस ख़ामोशी में अजीब-सा भय उभर आया है, मेरे प्रति

उतना नहीं जितना उस अज्ञात नियति के प्रति,जिसका निर्णय अगले चंद लम्हों में होने वाला था।"[16]

(घ) मूल्य विघटन

बदलते समाज में बदलते मूल्य को दिखाती निर्मल की कहानी है जलती झाड़ी। इस कहानी का नायक अनजाने शहर में घूमते हुए किसी झाड़ी के पास पहुंच जाता है। कथावाचक कुछ निश्चित कर पाता इससे पहले एक जोड़ा झाड़ी में चला गया। कुछ देर बाद वह वापस निकले। लड़का कहीं चला गया और लड़की वही बैठ गई। कथावाचक वहीं बैठा है और लड़की उससे प्रश्न करती है। और जब वह उससे कहती है कि उसी के साथ झाड़ी में थी तब वह सोचता है- "वह मेरे निकट सरक आई... क्या मैं सच हूं? एक नरम सी सरसराहट हुई, जैसे उसने मेरे भीतर एक पन्ना उलट दिया हो।

और वह जैसे आखरी पन्ना हो, उसके आगे कुछ भी नहीं।

और मुझे लगा, जैसे उस शाम दूसरी बार किसी ने मुझसे अपने 'सच' का प्रमाण मांगा हो।"[17]

यह प्रकरण जहां पश्चिमी सभ्यता के गिरते हुए मूल्य को प्रदर्शित करता है वही सच क्या है? जैसे प्रश्न को लेकर भी उपस्थित होता है। पश्चिमी संस्कृति पर आधारित ऐसी ही एक और कहानी है 'अंतर'। हालांकि इस कहानी पर सिर्फ वातावरण के स्तर पर पश्चिम का

---

[16] निर्मल वर्मा, "लंदन की एक रात", *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ 113

[17] निर्मल वर्मा, 'जलती झाड़ी', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 99

प्रभाव है। क्योंकि यह पूर्वी देशों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि पश्चिम के लिए। इस कहानी में एक ऐसे जोड़े की कहानी है जहां प्रेमी प्रेमिका का अबॉर्शन कराता है। प्रेमिका उसे स्पष्टतः इनकार नहीं करती परंतु वह टूट जाती है। वह अपने प्रेमी से कहती है-

"- तुम अब सुखी हो?- उसका स्वर बहुत धीमा था।

- हम दोनों पहले भी सुखी थे- उसने कहा।

- हां... लेकिन अब तुम सुखी हो?"[18]

'बावली' कहानी बदले हुए समय में मूल्यों के ह्रास और उससे उत्पन्न संवेदना को अलग स्तर पर ले जाने वाली कहानी है। यहां बिजनेस में हुए घाटे ने बीजी को किसी पर पुरुष से संबंध बनाने के लिए बाध्य किया है। यह पर पुरुष वही है जिससे उसके पति ने कर्ज लिया है यह स्पष्ट नहीं किया गया है। लेकिन इस कहानी में इस बात के पर्याप्त संकेत हैं कि यह सब उसके पति की मर्जी से होता है।

"बाबू बाहर से दरवाजा पीटते थे और वह कोने में बैठ कर बिल्कुल पत्थर-सी बन जाती थी। घर के सन्नाटे में सिर्फ दरवाजे की खटखट सुनाई देती थी, जैसे बाबू की लड़ाई दरवाजे से हो, बीजी कि पंप की धार से और जब बाबू हार जाते थे तो उसके पास आते थे, उसका सिर दरवाजे से टकराते थे, इतना जोर से नहीं, की चोट आए, सिर्फ इतना जिससे उसकी चीख मुंह से बाहर निकल सके- बाहर निकलकर दरवाजे को भेद सके-

[18] निर्मल वर्मा, 'अंतर', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 162

दरवाजे को भेजकर पानी की धार को काट सके... और तब धड़ से दरवाजा खुल जाता- बीजी की सुर्ख तरेरती आंखें दिखाई देती, दो नंगी बाहें बाहर निकलती, उसकी सुबकती देह को बाबू की गोद से खींच कर अपनी सिसकती देह से सटा लेती... हत्यारे- मुझसे बदला मेरी बेटी से लेगा- वह भागने लगती, पानी में लथपथ, उसे नंगी छाती से चिपकाए अपने कमरे की तरफ भाग जाती। बाबू को धकेल कर दरवाजा बंद कर लेती... और वह बाहर खड़े रहते।"[19]

इस कहानी में लेखक ने दिखाया है कि आधुनिक जीवन शैली के दबाव में व्यक्ति को इतना संवेदनहीन बना दिया है कि वह नैतिक और अनैतिक के बीच का फर्क भूल गया है। स्त्री पुरुष के अवैध संबंधों से इतर इस कहानी का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है बीजी की बेटी तोशी का उसकी मां और उसके बाबूजी के साथ उसका संबंध । इस कहानी की नैरेटर भी तोशी है। तोशी के माध्यम से ही पूरी कहानी आगे बढ़ती है।तोशी सब कुछ जानती है पर वह किसी से कुछ नहीं कहती। उसे यह सोचकर और भी बुरा लगता है कि काम वाली बाई भी सब कुछ जानती है।

"क्या वह अभी आता है?"

"कौन?" तोशी कहीं दूर से लौटी। चौके की गरमाई में उसकी देह बाई के पास सरक आती थी, मन कहीं दूर जाकर भटकने लगता था, "कौन आता है?"

---

[19] निर्मल वर्मा, 'बावली', *सूखा तथा अन्य कहानियां*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 121

"तेरे अंकल जी... और कौन?" बाई के मुंह से एक फ़ुत्कार-सी निकली।

तोशी आतंकित आंखों से उसे देखती रही... न सिर हिलाया, ना आंखें मूंदी- क्या इसे सब मालूम है? नहीं, सब नहीं... सब कोई नहीं जानता।

"कैसी है तेरी मां... देखती नहीं, तुझे क्या होता जा रहा है?

"मेरे साथ क्या होगा"

"तेरे साथ नहीं, तो मेरे साथ होगा!"[20]

तोशी बाई से कहती है कि-

"दुपहर को कपड़े धोने मत आना...!"

"क्यों, तू आज घर में नहीं रहेगी?" बाई ने कुछ हैरत में उसे देखा।

"मां रहेंगी... उन्हें कुछ काम करना है। वह शोर नहीं सुनना चाहती।"

"कपड़े धोने से शोर होता है?" बाई हिकारत में हंसी, तो उसका चेहरा अजीब सा विकृत हो आया- पान और तमाकू में रंगे दांत चमकने लगे। वह दरवाजे के पास गई, फिर रुक गई, पीछे मुड़कर उसकी ओर देखा, "मुझे मालूम है उन्हें क्या काम करना है।"[21]

इन सब के बावजूद तोशी के मन में अपनी मां के लिए कोई घृणा नहीं है। इन सारी

---

[20] वही, पृ. 112-113

[21] वही, पृ. 115

परिस्थितियों में वह भीतर ही भीतर सूखती जा रही थी।इस कहानी में तोशी और बिजी के बीच कई मानवीय पहलू हैं जो आधुनिक जीवन की विडंबना ओं को रेखांकित करते हैं और समाज के बदलते स्वरुप को द्धयोतित करने में सक्षम है।

(ड़) समाज में व्याप्त मान्यताएँ, रीति-रिवाज एवं परम्पराएँ

निर्मल वर्मा की अधिकांश कहानियां शहरी जीवन से संबद्ध है। कुछ कहानियां तो विदेशी प्लॉटों में हैं, वहीं कुछ पहाड़ी अभिजात्य जीवन शैली से जुड़ी हैं। इसलिए इनकी कहानियों के पात्रों का जीवन स्तर गांव की अपेक्षा बेहतर है। निर्मल जी का बचपन शिमला में बीता था इसलिए उनकी रचनाओं में पहाड़ी जीवन, वहां का मौसम, उनके प्रचलित मान्यताएं, उनकी समस्याएं सभी का जिक्र मौजूद है। निर्मल जी के यहां सामाजिक रीति रिवाज एवं परंपराओं का वह रूप मौजूद नहीं है जो सामान्यतः रचनाओं में मिलता है लेकिन उनकी कहानियों में देवी के मंदिर, प्रकृति का चित्रण अत्यंत ही जीवंत है।

(च) मृत्युबोध

निर्मल वर्मा की रचनाओं में लोक और लोकोत्तर के प्रश्न जिस तरह मृत्यु और मृत्यु बोध से संबंधित हैं वह कहीं ना कहीं दर्शन से जुड़ जाती हैं।

“निर्मल वर्मा की कथा भी ‘वहां’ की कथा नहीं है, लेकिन वह सिर्फ ‘यहां’ की कथा भी नहीं है; वह ‘यहां और ‘वहां’ के बीच जिंदगी के उस अर्थ की खोज की कथा है जिसे हमने आरंभ में ‘यथार्थ’ कहा है- ऐसा यथार्थ जिसमें दोनों दुनियाएँ संश्लिष्ट है- लोक और

लोकोत्तर। यह न 'दूसरी दुनिया' है और न 'तीसरी दुनिया' लेकिन यह ऐसी पहली दुनिया भी नहीं है जिसका अधिप्रामाण्य स्वयं वह हो। यह पगली दुनिया जिसे हम 'लोक' कहते हैं, निर्मल वर्मा की कथा की 'प्लास्टिक सतह' है जिससे इस कथा का प्रतिमा-विधान होता है लेकिन इस सतह के नीचे एक और सतह है जिससे इस प्रतिमा में स्पंदन पैदा होता है और जिसे हम चाहे तो दूसरी दुनिया कह सकते हैं- लोकोत्तर- बशर्ते हम यह ध्यान रखें कि जिस तरह यह पहली दुनिया इस दूसरी दुनिया के बगैर निस्पंद है वैसे ही दूसरी दुनिया के स्पंदन भी इस पहली दुनिया के बगैर नहीं है। वह वस्तुतः, जैसा की हमने आरंभ में कहा, एक ही संश्लिष्ट की कड़ियां है:"[22]

निर्मल वर्मा के कथा साहित्य में जीवन और मृत्यु सम्बंधी ऐसे ही शाश्वत और गूढ़ प्रश्नों को उठाया गया है। "जिंदगी यहां और वहां", "कव्वे और काला पानी", "कुत्ते की मौत" आदि ऐसे ही कहानियां है। "जिंदगी यहां और वहां" में लेखक ने यही बताने की कोशिश की है कि व्यक्ति मृत्यु के बाद भी कहीं जाता नहीं है। स्मृतियों में, वस्तुओं में उसके आस-पास ही होता है।

"लेकिन निर्मल वर्मा की कथा में ऐसा नहीं है, यहां, "मरने के बाद भी वह जाते नहीं, वह यहां हैं, वह हस्तक्षेप नहीं करते, बोलते नहीं- किंतु जब मैं कोई चीज खो देता हूं दुख सहता हूं- तो वे अचानक अंधेरे कोने से बाहर निकल आते हैं, अपनी झोली में मेरे खोने

---

[22] मदन सोनी, "उपनिवेशोत्तर भारत में यथार्थ की खोज", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 58

और दुख को संभाल लेते हैं...। इस कथा में 'उनकी' यह उपस्थिति इतनी अनिवार्य है इस उपस्थिति का निवारण इस कथा का ही निवारण होगा। लंदन, वियना, प्राग, दिल्ली, सितंबर, अक्टूबर, मई, जून, चीज़, सॉसेज़, टोस्ट, बीयर, रम, कोन्याक, बिट्टी, बिट्टो, इरा, मैं, तुम, वे, पेड़, पहाड़, धूप, कोहरा, बादल, बार, घर, गलियां सब कुछ- देश, काल और इनके वाचक तमाम जड़-चेतन पदार्थ- दूसरे शब्दों में इस कथा की समूची सभ्यता नीरे खंडहर में बदल जाएगी अगर हम इस 'उपस्थिति' का निवारण कर इस कथा को पढ़ने की कोशिश करेंगे। निर्मल वर्मा की कथा कि यह सारे साभ्यतिक संकेत अपने अर्थ की समूची मांसलता के साथ इस 'लोकोत्तर' उपस्थिति के अधिष्ठान है, इस मांसलता के 'बावजूद' नहीं बल्कि उसी के कारण जो स्वयं इस लोकोत्तर को इस मांसलता के साथ एक अनिवार्य रिश्ते में बांधती है।"[23]

मृत्यु और आसन्न मृत्यु जैसे प्रश्न कई बार दार्शनिक तत्वों को जन्म देती है।

निर्मल वर्मा की कहानियों में अभिव्यक्त वैयक्तिक यथार्थ

प्रत्येक युग का अपना एक सत्य होता है जिसका संबंध उस काल की मानवीय संवेदनाओं से होता है। उन सवेदनाओं की प्रस्तुति उस युग में किस प्रकार है यही उस युग के यथार्थ से संबद्ध होता है। निर्मल वर्मा नई कहानी के दौर के रचनाकार हैं। और नए कहानीकारों ने अपने समय के यथार्थ को ज्यादा निर्भीकता और तटस्थता से प्रस्तुत किया है।

[23] वही, पृ. 59

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात के यथार्थ में फर्क था- "अब स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ ही वह क्षीण सूत्र, जो परस्पर विरोधी शक्तियों को बांधे था, टूट गया। अब केवल अंतर्विरोध ही सामने आए। यह स्पष्ट हो गया कि दोनों शक्तियां हाथ- में -हाथ डाले अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद आर्थिक सुसंपन्नता की जायज मांग पेश की गई। निम्न मध्यम वर्ग के साहित्यकारों ने इस वैषम्य को, इस अंतर्विरोध को समझा, और जनसाधारण की आकांक्षाओं को मूर्त रूप दिया।उच्च मध्यम वर्ग और उससे भी ऊपर के साहित्यकारों में से अनेक ने ह्रासोन्मुख पूंजीवाद से सहयोग किया और 'व्यक्ति-स्वाधीनता', 'मानवता' जैसे आकर्षक नारे लगाकर इन अंतर्विरोध को जैसा -का -तैसा स्वीकार करना चाहा।"[24]

"स्वतंत्रता के बाद मध्यवर्गीय परिवारों में जो विघटन हुआ, एक तरह की सुरक्षित जिंदगी छिन्न भिन्न होने लगी... उससे जो पीड़ा, उखड़ापन या टिपिकल विषाद दिखाई दिया, पिता पुत्र के बीच का द्वंद, स्वतंत्र हो रही स्त्री, स्त्री-पुरुष संबंधों में प्रथम बार हो रहे परिवर्तन, गांव से उन्मूलित होकर शहरों में आ रहे लोगों के मन का अकेलापन, असुरक्षा... मूलभूत परिवर्तन होने की आशा के मोहभंग की वेदना-व्यथा आधी... इन

[24] हरिशंकर परसाई, "नई कहानी", देवी शंकर अवस्थी (स), *नई कहानी: संदर्भ और प्रकृति*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 58

सब समस्याओं को कथ्यात्मक घेरे में लाने का काफी सार्थक, सफल प्रयास किया था नई कहानी ने।"[25]

स्वतंत्रता पश्चात का यथार्थ सिर्फ समाज के स्थूल और बहिर्मुख यथार्थ से जुड़ा हुआ नहीं था। इस समय का यथार्थ व्यक्ति के अंतर्मन और उनके आंतरिक अनुभूतियों से ज्यादा गहरे जुडी थी। "वह वास्तविक यथार्थ क्या है जिसके पर्दे पर लेखक की अनुभूत वास्तविकता प्रक्षेपित होती है? निर्मल जी के संदर्भ में यह पर्दा प्रकृति का है। उनकी कहानियों में बच्चे, बूढ़े, प्रेमी, बेरोजगार और बीमारों की पीड़ा; हवा-पानी- आकाश और धूप के रूपों में वास करती है। पहाड़ों ने स्मृतियों में खास जगह बना ली है। यह प्रत्येक पात्र की पीड़ा अकेली है, उसमें किसी दूसरे का साझा नहीं। उसकी अपनी अलग धूप है, धूप के टुकड़े हैं। बादलों के टुकड़े हवा में बिखरते हैं, पत्तियां चढ़ती हैं आसमान सबके लिए अलग-अलग खुलता है। यहां वह मेघ नहीं जो रामगिरी से अलकापुरी तक जा सके। बादल का एक टुकड़ा है जो देखते ही देखते रेशे-रेशे होकर बिखर जाता है।"[26]

(क) अकेलापन

निर्मल वर्मा की कहानियों में अकेलापन केवल कुछ व्यक्तियों की मजबूरी नहीं है बल्कि यह आधुनिक जीवनशैली या महानगरीय समाज में जी रहे व्यक्ति के लिए एक जीवन

---

[25] निर्मल वर्मा, *साहित्य का आत्म सत्य*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ. 109-110

[26] ध्रुव शुक्ल, "आधुनिक मनुष्य के आत्म का नया छंद", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 130

मूल्य बन चुका है। "वह आज के आदमी के के इस निर्मम तथ्य का प्रतीक या मिथक है कि परस्पर सहभागिता असंभव है। वह स्त्री कहती है, "मुश्किल यह है कि जो एक व्यक्ति आपकी दुखती रग को सही-सही पहचान सकता है उसी से हम हल अलग हो जाते हैं।" एक दूसरी कहानी 'जिंदगी यहां और वहां में' भी प्रेमी-प्रेमिका इच्छा माँगते हैं- "उस शाम मिंटो रोड ब्रिज के नीचे- जब ऊपर रेल गुजर रही थी-उन दोनों ने एक ही इच्छा मांगी थी, एक दूसरे से अलग होने की... वे जितना ज्यादा एक दूसरे को चाहते थे, उतना ही एक दूसरे से छुटकारा पाने के लिए तड़पते थे..." यह इच्छा और तड़पना किसी भावात्मक, मनोवैज्ञानिक या अन्य किसी परिस्थितिगत कारण से नहीं है- वह एक मेटाफिजिकल जैसा सत्य है जिसका साक्षात्कार आधुनिक युग में समाज से विच्छिन्न होने की प्रक्रिया में व्यक्ति को हुआ है। जैसे प्राचीन मिथक उषा और सूर्य एक-दूसरे के बहुत निकट होते हुए भी कभी एक-दूसरे को पा नहीं सकते, कुछ उसी तरह आज का आदमी सहभागिता की प्रबल लालसा के होते हुए अलग अपने स्वतंत्र एकांत में, आत्मा के बचे हुए हल्के में प्रवेश कर जाने के लिए अभिशप्त है।"[27]

निर्मल की प्रथम और सबसे चर्चित कहानी संग्रह परिंदे की कहानी परिंदे की लतिका ने अकेलेपन को अपनी स्वेच्छा से चुना है। वह अपने प्रेमी के मरने के बाद किसी और व्यक्ति को स्वीकार ही नहीं पाती। वह जानती है कि उसकी उम्र अभी नहीं गुजरी थी वह फिर

---

[27] नित्यानंद तिवारी "अकेलेपन से सन्यास वाद की ओर", प्रेम सिंह (संपा), *निर्मल वर्मा: सृजन और चिंतन*, फिफ्थ डायमेंशन पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 1989, पृ. 30

से घर बसा सकती थी परंतु फिर भी वह अपने कुकुन में किसी का प्रवेश नहीं चाहती। वह अपनी स्मृतियों में ही जीना चाहती है उसे भूलना नहीं चाहती। लतिका छुट्टियों में भी अपने घर नहीं जाती है। मिस्टर

ह्यूवर उससे पूछते हैं-

"मिस लतिका आप कहीं छुट्टियों में जाती क्यों नहीं- सर्दियों में तो यहां सब कुछ वीरान हो जाता होगा?"

"अब मुझे यहां अच्छा लगता है," लतिका ने कहा, "पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था- अब आदी हो गई हूं।..."[28]

इसी कहानी का एक अन्य वाक्य-

"लतिका ने लेटे लेटे पलंग के नीचे चप्पलों को पैरों से उतार दिया।

ह्यूवर इतनी रात कहां गए? किंतु लतिका की आंखें फिर झपक गई। दिनभर की थकान से सब परेशानियों, प्रश्नों पर कुंजी लगा दी थी; मानव दिनभर आंख मिचौली खेलते हुए उसने अपने कमरे में 'दय्या' को छू लिया था। अब वह सुरक्षित थी, कमरे की चारदिवारी के भीतर उसे कोई नहीं पकड़ सकता। दिन के उजाले में वह गवाह थी, मुजरिम थी, हर चीज का उसे तकाजा था, अब इस अकेलेपन में कोई गिला नहीं, उलाहना नहीं, तब खींच तानी खत्म हो गई है, जो अपना है, वह

[28] निर्मल वर्मा, "परिंदे", *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 126

बिल्कुल अपना सा हो गया है, जो अपना नहीं है, उसका दुख नहीं, अपनाने की फुर्सत नहीं..."[29]

निर्मल की 'माया दर्पण' अकेलेपन को व्यंजित करने वाली एक और महत्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी की मूल समस्या है अकेलापन। तरन के पिता दीवान साहब अकेलेपन से घबराते हैं उनका बेटा उन्हें छोड़कर जा चुका है उन्हें लगता है कि अब तरन भी उन्हें छोड़कर चली जाएगी। जैसे उनकी ज़मींदारी सारी समृद्धि सब कुछ चला गया वैसे ही सभी चले जाएंगे। तरन की बुआ उनसे कहती रहती है कि तरन की शादी करवा दे। "मान-गौरव नहीं रहा,जमीन-जायदाद कब की बिक-लुट गई, बाप-दादा की विरासत के नाम पर बचा रह गया है एक यह मकान और समय की धूल में लदा-फंदा फटे चीथरे-सा 'दीवान' का खिताब, जिसे चाहे ओढ़ लो,चाहे दिखा लो, पर जो नहीं है, उसे कोई कब तक मानेगा?"[30] लेकिन वह अपनी बेटी के लिए अपनी बराबरी का घर करने की बात करते हैं। तरन की मां मर चुकी है वह उसके और उसके पिता के बीच की कड़ी थी।उसके पिता कहते हैं उसकी मां के जीते जी सब हो जाता तो अच्छा होता। इनसब बातों से परेशान हो एक दिन अपनी बहन से कहती है कि- "इसकी मां के गहने इस में रखे हैं, इन्हें लेकर वह जहां जहां चाहे चली जाए। लड़का चला गया तो मर नहीं गया; यह चली

---

[29] वही, पृ. 136

[30] निर्मल वर्मा, 'मायादार्पण', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 33

जाएगी, तू भी मुझे कुछ नहीं होगा।...मैं तो भौचक्की रह गई, तरन! क्या अपनी लड़की के लिए कोई ऐसे कहता है?"[31]

तरन अपने पिता की स्थिति समझती है और वह जानती है कि उसके जीवन में अकेलापन ही उसकी नियति है क्योंकि वह अपने पिता को छोड़कर कभी नहीं जा सकती। इस कहानी में भी तरन अकेलेपन को स्वयं चुनती है परंतु उसका अकेलापन परिस्थिति और वैयक्तिक दोनों स्तरों पर निर्मित है।

इसी तरह 'तीसरा गवाह' की नायिका नीरजा का विवाह से कुछ क्षण पहले का पलायन सिर्फ उस बाह्य वातावरण का परिणाम नहीं है। यह अंदर और बाहर के द्वंद्व के साथ साथ तत्कालीन सामाजिक और वैयक्तिक द्वंद्व का भी परिणाम है। लतिका के अकेलेपन के पीछे उसके प्रेम का इस दुनिया में नहीं होना है जबकि तीसरा गवाह कहानी की नीरजा विवाह से कुछ समय पहले अपने प्रेम को छोड़कर वहां से चली जाती है और अकेलेपन को चुनती है। यहां लेखक ने कई तर्कों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि तीसरे गवाह के अत्यधिक विलंब से, कोर्ट का बुझा बुझा बोझिल वातावरण, कलर्क की तीखी क्रुद्ध दृष्टि आदि सब ने मिलकर वह बोझिल और भयावह वातावरण निर्मित निर्मित कर दिया जिससे नीरजा विवाह नहीं करने का निर्णय लेती है। रोहतगी को लगता है कि कोर्ट का वह 10 मिनट सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण था, यह सब नहीं होता तो शायद नीरजा छोड़कर नहीं जाती। लेकिन क्या यह सच है? रोहतगी जब कोर्ट में अपना नाम दर्ज करवा रहा होता है तब वह स्वयं सशंकित रहता है। वह कहता है- "मैं

[31] वही, पृ 36

खुद बहुत अनिश्चित था, सोचता था, क्या यह सब ठीक है, क्या इतनी खुशी, इतना सुख निवाह पाऊंगा? कितने वर्ष जो अकेले में अपने बिता डाले थे, उनकी जड़ता को तोड़ते हुए मन घबराता जाता था। किंतु जब नीरजा सामने होती, तोमैं बड़ी सतर्कता से अपनी आशंकाओं को ढाँप रखता। मैं जानता था कि मेरी जरा सी भी कमजोरी उसके विश्वास को सदा के लिए तोड़ देंगे।"[32]

(ख) प्रेम के प्रति नवीन दृष्टिकोण

निर्मल की कहानियों में प्रेम अपने अलग स्वरूप में है । "पुरानी कहानियों में प्रेम अपनी स्वार्थहीनता, व्यवहारिकता, सामाजिक परंपराओं के प्रति आदर तथा नैतिक विचारशीलता के द्वारा पात्रों को सामाजिक संगठन से जोड़े रखता था और पात्रों के मानवीय संबंधों को इन गुणों की परिधि में अनुकूलित करता था।"[33]

निर्मल वर्मा की कहानियों में प्रेम एक मुख्य विषय के रूप में मौजूद रहा है परंतु प्रेम की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में हुई है और ज्यादातर कहानियां त्रिकोणीय प्रेम संबंधों पर आधारित है। 'धागे' उनकी ऐसी ही महत्वपूर्ण कहानियों में से एक है । मीनू और केशी का वैवाहिक जीवन नाम मात्र का है। दोनों विवाहित हैं लेकिन उनका जीवन अलग अलग है। वे अलग अलग कमरों में सोते हैं। दोनों दाम्पत्य बंधन में बंध कर भी विवाह सुख

---

[32] निर्मल वर्मा, 'तीसरा गवाह', *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 47

[33] देवी शंकर अवस्थी, "यथार्थ का शिल्प और शिल्प का यथार्थ", देवी शंकर अवस्थी (स.), *नई कहानी: संदर्भ और प्रकृति*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 205

नहीं भोग पाते। रूनी, मीनू की बहन है। वह अपना घर बार पति अपनी गृहस्थी सब छोड़कर दिल्ली के वर्किंग वूमेंस हॉस्टल में रहती है। वह केशी से प्रेम करती है और केशी भी उस से प्रेम करता है हालांकि इस कहानी में स्पष्ट रुप से ऐसा नहीं दिखाया गया है लेकिन कई जगह ऐसे हिंट मौजूद हैं। रूनी को लगता है कि 'मीनू' इन दोनों के बारे में जानती है। मीनू अपने व्यवहार में प्रत्यक्षत: कुछ नहीं दिखाती लेकिन केशी से उसकी दूरी और जीवन के प्रति उसमें जो ठहराव है उससे ऐसा लगता है शायद मीनू सब कुछ जान कर भी उसे नजरअंदाज करने की कोशिश करती है। मीनू अपने कमरे में सो रही होती है और रूनी केशी के कमरे में बैठी रहती है।यह उलझे रिश्ते तीनों में से किसी को भी सहज जीवन नहीं जीने देते।इसलिए रूनी अपने हॉस्टल लौट जाना चाहती है ताकि वहां उसका अतीत उसे परेशान न करे।

प्रेम में व्याप्त उलझनको प्रकट करने वाली ऐसी ही एक कहानी है ' पिक्चर पोस्टकार्ड'।

"...परेश ने 'कई बार सोचा है कि किसी दिन मैं उस कालर-बोन के उस गढ़े को अपनी जुबान की नोक से स्पर्श करूंगा। उस गढ़े में हल्का पसीना है।मैंने कई बार सोचा है कि किसी दिन में उस पसीने को अपने होठों से चूस लूंगा।' पर इसके बाद?- वही अपने से दुराव, अपने आप में परिचय के साथ बढ़ता अपरिचय, कुछ औपचारिक बातें और 10

बजे रात को जूकबॉक्स में चवन्नी डालकर अधिक से अधिक ऊपर उठने वाला रिकॉर्ड (उसे भी शायद बगैर सुने, दोस्तों की भीड़ में फिल्म देखने चला गया होगा।)"[34]

इसी तरह दांपत्य जीवन में आए ठहराव के प्लॉट पर ही लिखी गई निर्मल जी की एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी है 'इतनी बड़ी आकांक्षा'। "दोनों ही एक-दूसरे के प्रति चुप थे। चुप्पी, जो अख़ड़ती नहीं और आसपास की हलचल से अलग रहती है। जब स्त्री और पुरुष इतने निश्चिंत भाव से आपस में चुप हो, तो अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि वह पति-पत्नी है। उनकी ऊब को सूंघना भी मुश्किल नहीं है।"[35] दांपत्य जीवन में आई इस उदासीनता को देखते हुए इस कहानी की नायिका सोचती है- "प्रेम कितने धीरे धीरे मर जाता है और फिर अचानक... उसने अपने पति की ओर देखा...)[36]

'अमालिया' प्रेम को प्रस्तुत करने वाली एक अलग तरह की कहानी है। यहां प्रेम किसी नैतिक-अनैतिक मान्यताओं के खाँचे में नहीं बंटा है। अमालिया एक ऐसी ही लड़की है जो प्रेम के उन्मुक्त रूप को स्वीकार करती है।वह हॉस्टल में रहती है और किसी के साथ भी सेक्स संबंध स्थापित कर लेती है। उसके ज्यादातर दोस्त विदेशी टूरिस्ट है।

"क्या यहां तुम्हारे... बहुत दोस्त हैं?" ब्राजीलियन ने पूछा।

---

[34] देवी शंकर अवस्थी, "प्रेम-कहानियां: परिचय के मध्य अपरिचय", देवी शंकर अवस्थी (स), *नई कहानी: संदर्भ और प्रकृति*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 161

[35] निर्मल वर्मा, 'इतनी बड़ी आकांक्षा', *पिछली गर्मियों में*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ. 123

[36] वही, पृ. 124

वह एक क्षण चुप रही, फिर कुछ उनींदे स्वर में उसने कहा, "हैं... और नहीं भी। ज्यादातर विदेशी टूरिस्ट होते हैं... एक दिन साथ रहते हैं, दूसरे दिन उनका पता भी नहीं चलता। लेकिन तुम लोग वापस आओगे... नहीं?"

"कुछ महीनों बाद।"

"वे सब यही कहते हैं..." उसने अधमूँदी आंखों से मोमबत्ती की लौ को देखा। "लेकिन अगर मैं उनसे दोबारा मिली तो शायद पहचान भी ना सकूं।"[37]

(ग़) अस्मिता की तलाश

अपने अस्तित्व की खोज कर रही एक व्यक्ति की मार्मिक कहानी है अंतराल। दो भाइयों के बीच के जीवन पर केंद्रित इस कहानी का कथावाचक है छोटा भाई ।बड़ा भाई अपने रिटायरमेंट के बाद अपने छोटे भाई के साथ रहने लगता है। बड़े भाई की पत्नी थी जो अब मर चुकी है। एक बेटी है जिसकी अपनी गृहस्थी है और वह कभी-कभी अपने पिता को देखने आती है। छोटा भाई बड़े भाई से कहता है कि आप कुछ दिन बेटी के यहां क्यों नहीं चले जाते।परंतु बड़े भाई अपने रिटायरमेंट के बाद जीवन के उस ठहराव पर पहुंच गए हैं जहां पहुंचकर उन्हें लगता है कि अब उनकी किसी को जरूरत नहीं है। अपने अस्तित्व को तलाशते बड़े भाई दिन-ब-दिन अपने में सिमटते चले जाते हैं।

"कोई बुलावा आता, तो उनका नहीं, उनके लिए नहीं। इस शहर में उनके कोई जान

---

[37] निर्मल वर्मा, 'अमालिया', *पिछली गर्मियों में*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010, पृ. 113

पहचान के मित्र नहीं थे, इसलिए किसी शाम मेरे दोस्त आते, तो वह दबे पांव मेरे कमरे में आते, फुसफुसाते हुए कहते, तुमसे कोई मिलने आया है और इससे पहले मैं बाहर निकलूं, वह इतनी तेजी से अपने कमरे में चले जाते, कि आने वाले को सिर्फ एक उड़ती हुई झलक ही मिल पाती। मुझे इतना मौका ही ना मिल पाता, कि मैं किसी से उनका परिचय करवा सकूं।"[38]

बड़े भाई को कोई बीमारी नहीं है। डॉक्टर उनकी अवस्था को देखकर कहता है कि उन्हें उनके कुकून से बाहर निकालना होगा अगर वे स्वयं जीवन से जुड़ेंगे तभी ठीक होंगे। छोटा भाई सोचता है- "भैया मुझे उन फटे पन्नों के उपन्यासों की याद दिलाते थे, जो सेकंड हैंड किताबों की दुकान में पड़े दिखाई दे जाते हैं... किसी के अंतिम परिच्छेद को पढ़कर शुरू का अनुमान लगाना पड़ता है जबकि बीच के पन्ने किसी दूसरी दुकान की रद्दी के बीच पड़े रहते हैं। कुछ दिनों बाद जब हम अपनी अपनी चिंदियाँ बटोर कर अपने साथ लाते थे, तो उसका कोई न कोई अंश हमेशा कहीं गुजरी हुई उम्र की दुकान में छूट गया जान पड़ता था।"[39]

अस्तित्व को तलाश थी ऐसी ही एक और कहानी 'तीसरा गवाह' । इस कहानी की नीरजा और मि रोहतगी दोनों एक दूसरे से प्रेम करते हैं और विवाह करने का निर्णय लेते हैं पर अंतिम समय में नीरजा तीसरे गवाह के आने में हो रहे विलंब के समय ही वहाँ से

---

[38] निर्मल वर्मा, 'अंतराल', *सूखा तथा अन्य कहानियां*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 17

[39] वही, पृ. 18

चली जाती है।रोहतगी सोचता है कि तीसरा गवाह यदि समय पर आ जाता तब क्या नीरजा जाती? लेकिन इस कहानी में 'नीरजा' का जाना निरजा और रोहतगी दोनों के अस्तित्व से जुड़े प्रश्न है? रोहतगी कहता है- " आज सोचता हूं तो लगता है की नीरजा का अपना एक अलग अस्तित्व था जिसे मैं हर क्षण महसूस करता था, किंतु जिसे मैं कभी छू भी नहीं सका। वह बरसों से अकेली रही थी और अपने मां-बाप के अतिरिक्त उसने केवल मुझे इतने निकट से जाना था। किंतु मुझे देख कर उसे कुछ विचित्र सी उलझन और घबराहट होने लगती थी।कहीं कोई अदृश्य दरवाजा था, जिसके पीछे नीरजा ने अपनी सुनी, अकेली घड़ियों को जोड़ जोड़ कर एक अपना अलग स्वप्न जगत बना लिया था, जहां वह दिन रात सोए हुए प्राणी की तरह चलती रहती थी। मुझे लगता जैसे मैं हमेशा उस दरवाजे के बाहर खड़ा रहा हूं...।"[40]

वहीं रोहतगी भी भी नीरजा से विवाह का निर्णय तो ले लेता है पर वह स्वयं असमंजस की स्थिति में है-

> "मैं खुद बहुत अनिश्चित था, सोचता था, क्या यह सब ठीक है, क्या इतनी खुशी, इतना सुख निवाह पाऊंगा? इतने वर्ष जो अकेले अपने में बिता डाले थे, उनकी जड़ता को तोड़ते हुए मन घबरा सा जाता था। किंतु जब नीरजा सामने होती, तो मैं बड़ी सतर्कता से अपनी आशंकाओं को ढाँप रखता। मैं जानता था कि मेरी जरा

[40] निर्मल वर्मा, 'तीसरा गवाह', *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012, पृ. 45-46

सी भी कमजोरी उसके विश्वास को सदा के लिए तोड़ देगी।"[41]

दरअसल इस कहानी में निर्मल जी ने दिखाया है कि आधुनिक जीवन शैली के दबाव में व्यक्ति को अपने आप से इस तरह आसक्त कर दिया है कि वह उसमें किसी और के प्रवेश से पहले घबरा जाता है।

'माया दर्पण' कहानी की तरन भी अपने अस्तित्व के प्रति ऐसे ही सशंकित है ।पिता की जा चुकी जमींदारी, मां की मृत्यु और भाई के घर छोड़ने के बाद तरन अपने घर में अकेली रह गई है। एक बुआ है जो उसके साथ रहती है। पिता अपने पुराने दिन से निकल ही नहीं पाते और अतीत एवं पुरानी स्मृतियों में ही जीते हैं। पहले तरन को लगता था कि उसमें कुछ है जिसमें आकर्षण है। पर धीरे-धीरे सब खत्म हो रहा है।

"तरन ने हरबराकर बालों को समेट लिया, दो-तीन बार जल्दी-जल्दी कंघी से उन्हें कहीं धीरे से दबाया, कहीं हल्के से उठाया। पाउडर लगाया तो आंखें फरफरा उठी। मांग के नीचे, माथे के बीचो-बीच बिंदी लगाते हुए तरण का हाथ क्षण भर के लिए ठिठक-सा गया..... क्या देखते हैं, लोग उसमें? यह प्रश्न कितना विचित्र था और इसका उत्तर पाने के लिए कितनी देर तक दिल धौंकनी की तरह चलता रहता था।"[42]

तरन की यह स्थिति परिस्थिति से भी उत्पन्न है और उस मनोवृति का भी परिणाम है जहां एक समय के उपरांत व्यक्ति किसी संबंध के लिए समझौता नहीं कर पाता। परिंदे की लतिका का उसके प्रेमी के मरने के बाद अकेले रहने का निर्णय उसके अस्तित्व से जुड़ा

---

[41] वही, पृ. 47

[42] निर्मल वर्मा, 'मायादार्पण', *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010, पृ. 28

हुआ सच है जहां अब किसी का प्रवेश संभव ही नहीं है। इसी तरह धूप का एक टुकड़ा कहानी की नायिका अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए ही यह जानकर कि उसके और उसके पति के बीच के रिश्ते में अब वह विश्वास नहीं है जो पहले था बिना कुछ कहे अलग हो जाती है। निर्मल कि और भी कहानियों में अस्तित्व संबंधी ऐसे कई शेड्स मौजूद हैं।

अध्याय- पाँच

निर्मल वर्मा के उपन्यासों में अभिव्यक्त यथार्थ

निर्मल वर्मा के उपन्यास स्वतंत्रता पश्चात के उपन्यास हैं । सन उन्नीस सौ तक आते-आते संपूर्ण भारतीय वातावरण एक प्रकार के विघटन की स्थिति से गुजर रहा था। स्वतंत्रता पश्चात सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक मोह भंग ने इस विघटन को और भी त्रासद बना दिया। वैश्विक स्तर पर द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति और भारतीय परिवेश में भारत पाकिस्तान विभाजन से उत्पन्न दंगे, हत्याएं, आगजनी ने दोनों ही देशों के जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया। विभाजन के समय और उसके पश्चात जो नरसंहार हुआ वह भारतीय इतिहास के लिए अभिशाप बन गया जिस अभिशाप से आज भी देश मुक्त नहीं हो सका है। सांप्रदायिकता की इस आग ने संरक्षित परिवार को छिन्न भिन्न कर दिया।अपने ही देश में लोगों ने शरणार्थी की समस्या और विस्थापितों की पीड़ा को झेला। यह एक तरफ पूरे व मानव जाति के लिए भीषण संकट का समय था तो दूसरी तरफ रचनाकारों के लिए अभिव्यक्ति के संकट का। स्वतंत्रता पूर्व जहां रचनाकारों के लिए यह समस्या थी कि क्या सचमुच स्वतंत्रता सभी के लिए समानता और अधिकारों को लेकर उपस्थित होगी या सिर्फ सत्ता शीर्ष के व्यक्ति बदल जाएंगे और अंग्रेजों की जगह यहां के जमींदार और सामंती वर्ग उनका स्थान ग्रहण कर लेंगे। उस समस्या का और भी विकराल रूप विभाजन के साथ सामने आया। स्वतंत्रता पूर्व की समस्याएं तो पूर्ववत बनी ही रही

इसके साथ विस्थापन और पुनर्वास की समस्या भी जुड़ गई।इस माहौल में नई पीढ़ी की संवेदनाएं भी बदल गई।

आजादी पश्चात नेहरू जी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने समाजवादी समाज का मॉडल लाया और पंचवर्षीय योजनाएं आरंभ हुई। राजनीतिक रूप से देश आजाद हो चुका था और लोगों ने चुनाव में हिस्सा भी लिया परंतु सामाजिक रूप से देश की स्थिति जर्जर ही रही। वर्ण व्यवस्था के रूप में सवर्ण-अवर्ण के बीच भेदभाव को जहां संविधान के निर्माण से कुछ हद तक समानता का दर्जा मिला वहीं इस विकास में जटिलता और परस्पर विरोधी तत्व देखने को मिले। एक और जनता में विकसित राजनीतिक चेतना ने व्यक्ति को समानता और उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया वही बेहतर जीवन की आकांक्षा ने लोगों को सुख सुविधाओं और भौतिकवादी जीवन के प्रति आकर्षित किया।

निर्मल वर्मा स्वातंत्रयोत्तर हिंदी साहित्य के उन गिने-चुने लेखकों में से हैं, जिन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया और प्रवेश के स्तर पर हिंदी के रचना संसार को अंतरराष्ट्रीय पहचान प्रदान कराई।

निर्मल के उपन्यासों में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति यदि परिवार की इकाई है तो परिवार समाज की इकाई है। मनुष्य अपना संपूर्ण विकास समाज में रहकर ही कर सकता है। परिवार एवं समाज व्यक्ति के विकास के दो महत्वपूर्ण आयाम हैं। सामान्यत: भारतीय पारिवारिक व्यवस्था संयुक्त परिवार की रही है परंतु वर्तमान समय में बढ़ते हुए महानगरीकरण और आर्थिक दबावों के चलते संयुक्त पारिवारिक ढांचा समाप्त होने के कगार पर है। सच्चाई यह है कि आज के समाज में बाह्य दबाव और परिस्थितियां इस तरह हावी हो चुकी है कि

एकल परिवार भी अब टूटने के कगार पर है। निर्मल के यहाँ का समाज इन्हीं तत्वों के समुच्चय का समाज है । मदन सोनी के शब्दों में- "वह आधुनिक पश्चिमी व्यक्ति या आधुनिक उच्च मध्यमवर्गीय भारतीय की भांति 'समाज से कटे हुए' नहीं है, वह एक कटे हुए समाज के हिस्से हैं, विश्व सामूहिक रूप से अकेले पड़ गए भारतीय हैं- अपनी पहचान से प्रतिश्रुत लेकिन उसके साथ एक अंतक्रियात्मक संबंध से वंचित समाज के सदस्य:"[1]

(क) मूल्य विघटन

निर्मल वर्मा की रचनाओं को पारंपरिक नैतिक अनैतिक के खाँचों पर नहीं कस सकते वरना उनकी अधिकांश रचनाओं के लिए एक नए कैटेगरी का निर्माण करना पड़ेगा।

"जीवन का ऋण-शोध जीवन-दान से ही संभव है। इस रचनात्मक जीवन-ग्रहण और जीवन-दान के लिए उच्च कोटि की भाविक सामर्थ्य और कल्पना शक्ति चाहिए।लेखक की चेतना एक गहरे और विशिष्ट अर्थ में प्रातिनिधिक चेतना होती है। व्यक्ति के रूप में, वह चाहे जितने ऊंचे नैतिक सांस्कृतिक मानदंडों का कायल हो, एक रचनाकार की हैसियत से उसकी चेतना और कल्पना अपने युग और परिवेश में व्याप्त संक्रामकों से अछूती नहीं रह सकती। वह समाज में व्याप्त का अनिश्चय, विकार और झूठ का द्रष्टा-भोक्ता दोनों

[1] मदन सोनी, "उपनिवेशोत्तर भारत में यथार्थ की खोज", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 62

अपने ढंग से होगा ही। यह परकायप्रवेश उसका स्वधर्म है। पर यही तो उसके होने को उसके समाज के लिए अतिरिक्त मूल्यवान बनाता है।"[2]

निर्मल इसलिए नहीं लिख रहे थे कि समाज में क्या होना चाहिए? निर्मल वह लिख रहे थे जो वह घटता हुआ देख रहे थे। साहित्य का काम समाज-सुधार का काम नहीं है वह वह करता है जो अनुभव करता है।

निर्मल के अधिकांश उपन्यास में पारिवारिक मूल्य विखंडित हो रहे हैं। 'वे दिन' उपन्यास में इण्डी और रायना; फ्रांज और मारिया के संबंध ऐसे ही हैं। फ्रांज और मारिया एक दूसरे के साथ रहते हैं। विवाह यहां कोई मूल प्रश्न नहीं है। रायना अपने अतीत से छुटकारा पाने के लिए प्राग आती है लेकिन उन्हीं जगहों को देखना चाहती है जो जॉक के साथ पहले भी देख चुकी है। अपने अकेलेपन से मुक्ति के लिए वह शहर दर शहर भी भटकती है और पुरुष दर पुरुष भी। परन्तु उसे कहीं शांति नहीं मिलती। वह मैं (इण्डी) के साथ भी दैहिक सम्बन्ध स्थापित करती है लेकिन उसे न इसका क्षोभ है न इसके लिए पछतावा। वह अपने संबंधों को लेकर भावुक होती है पर उतनी ही जल्द तटस्थ भी हो जाती है। वह इण्डी से कहती है कि वह कल जा रही है लेकिन उसे स्टेशन आने से भी मना करती है। वह एक अस्थिर लेकिन दृढ चरित्र है।

रायना अब वापस जाने वाली है।

"वह निस्तब्ध खड़ी थी। दोनों आंखें आंसुओं में चमक रही थी।

---

[2] रमेशचंद्र शाह, "क़ब्वे और काला पानी", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ.161

"क्या बात है, रायना?" पास आकर मैंने उसका कंधा पकड़ लिया।

कमरे के बीच हम दोनों एक दूसरे को पकड़े हुए निश्चल खड़े रहे। उस क्षण हम कुछ नहीं कह सके। देख कर शायद अपना एक मौन होता है... हम जीवित रहते हैं, लेकिन उसका हर स्नायु मरने लगता है... शीराओं खून बहता रहता है- तपता, गर्म सनसनाती लू की तरह... हर चीज़ पूर्ववत रहती है- धमनियों का स्पंदन, सांस का आना-जाना, रक्त की गति... सिर्फ उन सब को जोड़ने वाला धागा टूट जाता है... वह काँपती रहती है हवा में एक फूले, निर्जीव झोल की तरह..."[3]

रायना का ज़ौक़ से एक पुत्र है मीता जो अपनी मां और पिता के बीच बँटा हुआ है। कभी वह अपनी मां के साथ रहता है कभी अपने पिता के साथ। वह अपनी मां के पर पुरुषों के साथ यौन संबंध के बारे में जानता है पर कभी कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करता। उम्र से पहले ही उसमें वयस्कों वाली परिपक्वता आ चुकी है. लेखक ने लिखा है- "किसी बच्चे के चेहरे पर इतना करुण विषाद हो सकता है, मैंने पहले कभी नहीं देखा था. गालों पर आंसुओं की लकीर खींच गई थी... और होंठ खुले रह गए थे।"[4]

आधुनिक जीवन शैली के दबाव ने बच्चों के जीवन में परिवर्तन ला दिया है। वे दिन के मीता की तरह लाल टीन की छत की 'काया', 'वीरू'; एक चिथरा सुख'का मुन्नू अपनी उम्र से ज्यादा समझदार है। लाल टीन की छत में काया के चाचा का नथ वाली औरत के

---

[3] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 195

[4] वही, पृ 121

साथ अवैध संबंध है। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद चाचा ने अपने सेक्स की पूर्ति के लिए नारकंडा से इस पहाड़ी औरत को खरीद कर लाया था। निर्मल ने मदन सोनी से अपनी बातचीत में इस बात का जिक्र किया है- "लाल टीन की छत की पहाड़ी स्त्री को उसके चाचा उसके गांव से ले आए थे। वर्षों पहले शहर के लोग पहाड़ों पर जाते थे और हज़ार दो हज़ार देकर औरतों को खरीद कर ले आते थे। वह औरतें उनकी मिस्ट्रेस की तरह रहती थी। ऐसा मैंने अपने परिवार में भी कई लोगों के साथ देखा है। उन औरतों का जीवन उस परिवार के साथ संलग्न भी रहता था और उसके बाहर भी। उस परिवार में रहने वाले बच्चों के लिए इस तरह की औरतें या इस तरह के व्यक्ति हमेशा एक अजीब कौतूहल और वेदना जगाते हैं।"[5]

ऐसे में यह ध्यान देने योग्य है कि सिर्फ पश्चिम नहीं भारतीय परिवेश में भी तथाकथित अभिजात्य वर्ग ने अपनी वासना की पूर्ति के लिए कोई ना कोई हथकंडा अपना रखा था। निर्मल के यहां के समाज में सेक्स और शराब वर्जित नहीं है साथ ही इनके प्रदर्शन पर भी किसी भी तरह की हिचक नहीं है। यहाँ एक मित्र दूसरे मित्र की उपस्थिति में एक ही कमरे में लड़की के साथ संभोग करना चाहता है। इंडी का रूमानियन मित्र उससे कहता है "वह आंखें मूंद कर अपनी पलंग पर लेट सकता है। उसे और उसके साथिन को कोई आपत्ति नहीं होगी। उसने यह भी आश्वासन दिया था कि मैं चाहूं तो बीच-बीच में आंखें खोल भी सकता हूं।"[6]

---

[5] "निर्मल वर्मा के कथा-देश में" अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 50

[6] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 23

निर्मल वर्मा के पात्र शराब पीने के लिए पीते हैं, प्यास मिटाने के लिए पीते हैं, खुशी का प्रतीक मानकर पीते हैं। वह जीने की तरफ पीना भी अपना मौलिक अधिकार मानते हैं। शायद इसलिए इंद्रनाथ मदान ने 'वे दिन' के संदर्भ में कहा है कि- "उपन्यास की सतह पर बीयर की झाग है और झाग में शराब की गंध है। इस सतह के नीचे सेक्स की परत है, जिसमें इस संवेदना को आंका जा सकता है।"[7]

यहाँ दैहिक शुचिता कोई समस्या नहीं है, समस्या है युद्ध की मंडराती छाया जो युद्धोत्तर परिस्थितियों में 'रायना' जैसे चरित्र को सहज नहीं रहने देता। यह उपन्यास विदेशी प्लॉट में लिखा गया है। डॉ परमानंद श्रीवास्तव के शब्दों में- "यह देख के द्वार से पहले मानसिक प्रतीतियों, अज्ञात विकलताओं की कथा है जो प्रेम में जुड़ने की अपेक्षा टूटने, राग की जगह भय की विडंबना को प्रत्यक्ष करती है। यूरोप की युद्धोत्तर पीढ़ी की अभिशप्त छायाएँ हर पात्र के अतीत से जुड़ी है और जितना ही वे अपने को अतीत-मुक्त बता रहे हैं उतना ही अतीत उनके बीच एक तीसरे व्यक्ति के रूप में हर समय और भी निकटता से आ उपस्थित होता है।"[8]

वे दिन उपन्यास विदेशी वातावरण को व्यंजित करता है पर *रात का रिपोर्टर* जैसे भारतीय वातावरण में लिखे गए उपन्यास में भी दैहिक शुचिता इतनी बड़ी समस्या नहीं है। 'रात का रिपोर्टर' का नायक रिशी का बिंदु के साथ विवाहेत्तर संबंध है।उसकी पत्नी

---

[7] इंद्रनाथ मदान, *आधुनिकता और हिंदी उपन्यास,* राजकमलल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981, पृ. 79

[8] परमानंद श्रीवासतव, *उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1976, पृ. 128

बीमार है। “आधी रात को किसी ने दरवाजा खटखटाया, तो वह हड़बड़ा कर उठ बैठा... देहरी पर मां की छाँह दिखाई दी। अंधेरे में उन्हें दिखाई भी न दिया होगा कि कोई उसके साथ है। अंधेरा न भी होता तो भी वह कुछ न जान पातीं; बिंदु इतनी निश्चल लेटी थी कि बिस्तर का ही हिस्सा जान पड़ती थी। मां ने कभी कल्पना भी ना की होगी कि कंबल की निर्जीव लोथ के नीचे कोई जीती-जागती लड़की लेटी होगी।”[9]

निर्मल का विवाह व्यवस्था में बहुत ज्यादा विश्वास नहीं है। उनके कई उपन्यासों में इस व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। बिंदु, रिशी के साथ अपने रिश्ते को कोई नाम देना चाहती है। वह रिशी से पूछती है कि उसकी पत्नी क्या चाहती है? बिंदु के प्रश्न का रिशी के पास कोई सटीक उत्तर नहीं है। वह जानता है कि उमा की बीमारी का जिम्मेदार वह स्वयं है। पहले उसकी पत्नी की हालत ऐसी नहीं थी।

“आखिर वो चाहती क्या है?” बिंदु का प्रश्न बहुत देर तक अंधेरे में ताकता रहा। अगर मुझ में हिम्मत होती तो कहता- वह मुझे चाहती है, जबकि मेरे पास उसे देने को कुछ भी नहीं है। इसलिए पिछले कुछ वर्षों से वह कभी मेरे घर रहती है, कभी अपने घर... और जब दोनों असह्य हो जाते हैं, तो अस्पताल में शरण लेनी पड़ती है, जहां सोने की गोलियों से सोना होता है और बिजली के झटकों से जागना... वह जानना चाहती थी, क्या मैं

[9] निर्मल वर्मा, *रात का रिपोर्टर*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2010, पृ. 48-49

दिल्ली में ही हूं, या बस्तर चला गया? पागलपन? नहीं, यह पागलपन नहीं, दुख है, जो चारों तरफ भटकता है।"[10]

रिशी उन्मुक्त प्रेम में विश्वास करता है। वह सोचता है कि बिंदु इन फेरों में ना पड़े।

एक चिथड़ा सुख के नित्ती भाई शादीशुदा है। इरा विदेश से उन्हीं के लिए आई हुई है। नित्ती भाई और इरा का संबंध भी विवाहेत्तर संबंध का उदाहरण है। अपने ऑफिस वाले फ्लैट में वे इरा के साथ रहते हैं और विवाह और विवाहेत्तर संबंध के बीच फंसे अंततः आत्महत्या कर लेते हैं।

'अंतिम अरण्य' के मि. मेहरा अपनी पहली पत्नी के प्रति उदासीन है। उनकी पहली पत्नी उन्हें छोड़कर जा चुकी है। उनकी एक बेटी है तिया। मि मेहरा की बेटी तिया और उनकी दूसरी पत्नी दीवा के काफी अच्छे संबंध हैं पर तिया अपने पिता को कभी माफ नहीं कर पाती, उसे लगता है कि उसके पिता के कारण ही उसकी मां चली गई है।

(ख) बेरोजगारी

निर्मल के उपन्यासों में मध्यवर्गीय बेरोजगार पात्रों का चित्रण ज्यादा मुखर है। 'वे दिन' का इंडी स्कॉलरशिप पर विदेश में पढ़ाई करता है और आर्थिक अभाव से बचने के लिए खाली समय में गाइड का काम करता है। पर काफी ठंड पड़ने पर टूरिस्ट भी वहां नहीं आते और ऐसे समय में जब इंडी को काम मिलता है तो उसके बर्मी दोस्त टी. टी. (थुनथुन) को बहुत आश्चर्य होता है। इंडी कहता है-

---

[10] *वही*, पृ. 49

"मुझे काम मिल गया है।" कुछ देर बाद मैंने कहा, "सिर्फ कुछ दिनों के लिए।"

"कितने दिनों के लिए?"

"जितने दिन टूरिस्ट रहेंगे..."

"टूरिस्ट... इस मौसम में?" टी. टी. ने हल्के-से सीटी बजाई। वह दोनों गिलासों में बराबर-बराबर ढाल रहा था।"[11]

इंडी के काम से ज्यादा उसे इस बात की खुशी है कि उसके काम के कारण उसे स्लीवोवित्से जैसे अच्छे किस्म की ब्रांडी पीने को मिल रही है। इसी तरह की स्थिति उसके अन्य दोस्तों की है। उनकी स्थिति देखकर मारिया कहती है-

"टी. टी. सुबह आया था... तुझे कोई काम मिला?" उसने मुस्कुराकर मेरी ओर देखा।

"कुछ दिनों के लिए," मैंने कहा।

"अब तू भूखा मेरे घर नहीं आएगा।" उसने हंसकर कहा। यह पिछली सर्दियों में था। जब हमारे पास कुछ न रहता, हम अक्सर मारिया के घर खाने चले जाते थे। वह उन दिनों जर्मन एंबेसी में काम करती थी और अकेली थी। पता नहीं कितनी बार रात की अनुचित घड़ियों में हमने कुछ क्राउंस के लिए उसे जगाया था।"[12]

एक चिथड़ा सुख उपन्यास मध्य वर्ग के बुद्धिजीवी वर्ग से जुड़ा है। वैसे इस उपन्यास में

---

[11] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 27

[12] *वही*, पृ. 58-59

बेरोजगारी का सवाल प्रत्यक्षतः नहीं उठाया गया, लेकिन दिल्ली के आधुनिक वातावरण में जी रहे अधिकांश पात्र अच्छे घर परिवार से संबंध रखते हैं। डैरी के पिता का अकबर रोड में बड़ा सा बंगला है पर वह बिट्टी के बरसाती में रहना ज्यादा पसंद करता है। मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखने वाली बिट्टी इलाहाबाद अपने घर छोड़कर दिल्ली में रहती है। वह थिएटर से जुड़ी है लेकिन आर्थिक रूप से अपने घरवालों पर निर्भर है। उसे अपने घर वालों से पैसे लेना बुरा लगता है। जब उसका कजिन मुन्नू उससे कहता है कि वह तकलीफ में जीना चाहती है, बिट्टी कहती है-

"मुझे कोई तकलीफ नहीं है- बरसाती, किताबें, रिकॉर्ड-प्लेयर, मेरे पास सब कुछ है। मुन्नू, गरीबी का बहाना वही करते हैं, जो असल में गरीब नहीं है। मेरे पास सब कुछ है, सिर्फ शर्म नहीं है।"

"कैसी शर्म?"

"सब कुछ छोड़ने की। वे हर महीने मुझे पैसे भेजते हैं और मुझ में इतनी शर्म नहीं कि उन्हें लेने से इंकार कर सकूं।"

"बिट्टी," उसने कहा। "तुम किसी से कुछ नहीं ले सकती?"

"मैं उसके काबिल नहीं हूं।"[13]

[13] निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011, पृ. 186-187

(ग़) पीढ़ियों का संघर्ष

नई और पुरानी पीढ़ियों का संघर्ष निर्मल की कहानियों में भी मौजूद है और उनके उपन्यास में भी। पीढ़ियों का संघर्ष मुख्यतः लाल टीन की छत, एक चिथड़ा सुख और अंतिम अरण्य में देखने को मिलता है। काया के मन में अपनी मां के प्रति विद्रोह है और 'लामा' में तो संघर्ष पूरी सहजता से उपस्थित है।

काया के अतिरिक्त वीरू में भी पीढ़ियों का संघर्ष दिखाया गया है। काया यहां सिर्फ अपनी उम्र के संक्रमण से नहीं गुजर रही है रिश्तो के संक्रमण से भी गुजर रही है। वह अपनी परिस्थिति और जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण कई बार भ्रम और आतंक की भी शिकार होती है। 'लामा' काया की बुआ की बेटी है। उसकी मां की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। काया की मां को लगता है कि लामा बहुत ही स्वच्छंद और उद्दंड लड़की है। उसकी संगति से काया भी बिगड़ जाएगी। वह लामा की मां से कहती है कि उसकी शादी जल्द करवा दो। लामा को जब उसके विवाह की बात पता चलती है तब वह अत्यंत दुखी हो जाती है। उसे पता है कि विवाह वह बंधन है जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो पाएगी। वह गिन्नी से अपनी तुलना करती है। उसे लगता है उसी की तरह वह अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रही है। वह काया से कहती है-

> "जानती हो गिन्नी दिन-रात तड़पती है, हर रात मेरे दरवाजे पर चीखती है- तुम सुनती हो? नहीं काया, तुम कैसे सुनेगी?" वह धीरे से हंसी और मुझे लगा, वह हंसी भीतर फेफड़ों से न आकर किसी खाली हवा से आ रही है, "तुम बहुत स्वार्थी लड़की हो। तुम हमेशा से बड़ी स्वार्थ रही हो... तुम कभी कुछ नहीं सुनती" उसने मेरे हाथों

को मसलते हुए कहा, "सुनो, गिन्नी छुटकारा चाहती है, जैसे मैं चाहती हूं... मालूम है, छुटकारा कैसे मिलता है? और तब मेरे भीतर सब कुछ ठंडा पड़ने लगा। मेरे भीतर की गरमाई, बचा खुचा सुख, जैसे लामा ने चिमटे से उठाकर पानी में डाल दिया हो! छुटकारा? वह मिलता नहीं, दिया जाता है।"[14]

काया अपनी मां से ज्यादा अपने पिता से जुड़ी है परंतु जबकाया के पिता दिल्ली से लौटकर काया को अपने घर ले जाने के लिए आते है। वह तुरंत अपने सामान समेटती है और पिता के साथ जाने के लिए तैयार रहती है। जब काया अपने घर आती है तब उसके पिता उससे कहते है कि उसे अपने हमउम्र लड़कियों के साथ रहना चाहिए इसलिए उसे होस्टल जाना होगा और वे यह भी बताते है कि होस्टल उसके चाचा के घर के पास ही है जहाँ वह कभी भी जा सकती है। काया यहाँ भी अपने को ठगा महसूस करती है। वह सोचती है उसे इसलिए बुलाया था ताकि तसल्ली के दो शब्द कहकर उसे अपने से दूर किया जा सके।

काया के चाचा का लड़का है वीरू जो शिमला से भी ऊंची पहाड़ी फॉक्सलैंड में अपने पिता के साथ रहता है। उसकी मां की मृत्यु हो चुकी है और उसके पिता अपने कामवासना की पूर्ति के लिए एक पहाड़ी स्त्री को रखते हैं। वीरू अपने पिता से कुछ कहता नहीं है पर वह भीतर ही भीतर घुटता रहता है। वीरू की तरह का घुटन एक चिथड़ा सुख की बिट्टी में दिखाई पड़ता है। वह अपने माता पिता की इच्छा के विरुद्ध दिल्ली में आकर रहती है। वह चाहती है कि वह जीवन में कुछ अच्छा करे, नया करे। अंतिम अरण्य उपन्यास में पीढ़ियों का संघर्ष मिस्टर मेहरा और उनकी बेटी तिया के बीच

---

[14] निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011, पृ. 54-55

दिखता है। मिस्टर मेहरा चाहते हैं कि तिया उनके साथ रहे और वह अकेले रहना पसंद करती है। हालांकि तिया और मिस्टर मेहरा के बीच समस्या का कारण पीढ़ी के संघर्ष से ज्यादा तिया के मन में बैठी वह बात है जहां उसे लगता है कि उसके पिता के कारण ही उसकी मां उसे छोड़ कर चली गई है। निर्मल के यहां पीढ़ियों का संघर्ष बहुत मुखर नहीं है और यह मौन में भी बहुत कुछ कहने में सक्षम है।

(घ) दांपत्य जीवन

आधुनिक जीवन शैली में पति पत्नी के संबंध बदले हैं। पहले की अपेक्षा अब इन संबंधों में टूटन पैदा हुई है और दरारे भी बढ़ी है। सहिष्णुता के अभाव में इन दोनों के संबंधों में बिखराव उत्पन्न किया।

निर्मल वर्मा की रचनाएं आधुनिक काल की रचनाएं हैं। आधुनिक जीवन परिवेश ने पारंपरिक, पारिवारिक और वैवाहिक ढांचे को भी प्रभावित किया। इससे जहां स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच नई संभावनाओं का उदय हुआ, नई जीवन दृष्टि की तलाश की जाने लगी वहीं परिवार के प्रति जिम्मेदारी जैसे कुछ अच्छे मूल्यों का ह्रास भी हुआ। अब दांपत्य जीवन दायित्व से ज्यादा अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं। *रात का रिपोर्टर* का रिशी अपनी पत्नी 'उमा' के साथ न्याय नहीं कर पाता। रिशी जानता है अपने बारे में- "क्या एक दुखद विवाह के बाद मैं इस काबिल था कि बिंदु से प्रेम कर सकूं... क्या मुझे पहले से ही चेतावनी नहीं मिल जानी चाहिए थी कि जो आदमी अपनी पत्नी से प्रेम नहीं कर पाता, वह किसी दूसरी लड़की को चाहने की काबिलियत अर्जित नहीं कर सकता..."[15]

[15] निर्मल वर्मा, *रात का रिपोर्टर*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2010, पृ. 25

उसका विवाह दुखद है क्योंकि रिशी का बिंदु के साथ विवाहेत्तर संबंध है। रिशी की पत्नी उमा बीमार है उसकी बीमारी का कारण वही है। वह अपने पति पर बिल्कुल भी विश्वास नहीं करती। हालांकि रिशी के विभाजित चरित्र से यह अंदाजा अवश्य लग जाता है कि इसका कारण वह स्वयं है। रिशी की मां उससे कहती है कि उसकी पत्नी उससे मुक्ति चाहती है। रिशी बिंदु से पूछता है कि- "बिंदु, अगर मैं स्वतंत्र होता, तो तुम क्या मेरे साथ रहने का निर्णय ले सकती थी?"[16]

एक चिथड़ा सुख के नित्ती भाई की आत्महत्या के पीछे भी त्रिकोणीय प्रेम संबंध ही है। नित्ती भाई एक आर्किटेक्ट है। उसकी शादी हो चुकी है। उसका एक दस वर्ष का बेटा है। उसे अपनी पत्नी से प्यार नहीं है वह इरा से प्यार करते है। परन्तु सामाजिक रूप से डरते हैं और न अपनी पत्नी को छोड़ पाते हैं और न इरा को अपनाते हैं और इसी द्वंद्व के बीच आत्महत्या कर लेते है। इरा एक आधुनिक स्त्री है। वह लन्दन में रहती है। वह भारत नित्ती भाई के लिए आयी है पर नित्ती भाई में न उसे अपनाने का हौसला है और न अपनी पत्नी से सच बोलने की हिम्मत। वे कोशिश करते हैं फिर पीछे हट जाते है। इरा और नित्ती भाई के बीच अक्सर झगड़े होते रहते हैं। मुन्नू इन चीखों को सुन डर जाता है। "फिर हल्की सी खटखटाहट हुई- और मैंने देखा- इरा दूसरे कमरे से बहार निकली है। वह जल्दी से जीने के पास आयी- और बिट्टी के दोनों हाथ अपने हाथों में लिए। 'तुम जाओ... मैं कुछ देर बाद आउंगी।' उसकी आंखें सूज गयी थी। लम्बे बाल गले में लिपटे थे- सारी का पल्ला जमीन पर घिसट रहा था- सूखे होंठों के बीच एक वीभत्स-सी मुस्कुराहट दिखाई दे रही थी।

---

[16] *वही*, पृ. 157

बिट्टी देखती रही। पीछे नित्ती भाई आये थे- अपना हाथ इरा के कंधे पर रख दिया था। दोनों खड़े थे- हमें देख रहे थे।"[17]

बिट्टी, नित्ती भाई से पूछती है कि क्या वह सचमुच इरा से प्यार करता है'?

"तुम क्या सचमुच मुझसे प्यार करते हो?"

"तुम क्या सोचती है?"

"मैं सोचती हूं- तुम कुछ करते क्यों नहीं?"

"बिट्टी... तुम्हें सब कुछ आसान लगता है।"

"अपने बच्चे को छोड़ना?" बिट्टी ने कहा, "या अपनी पत्नी को?"[18]

लाल टीन की छत में वैवाहिक जीवन में कोई तीसरा नहीं है फिर भी यहां गृहस्थ जीवन जैसा कुछ नहीं है। काया के पिता अपने कार्य के सिलसिले में दिल्ली में रहते हैं और उसका पूरा परिवार शिमला में। काया के चाचा की पत्नी मर चुकी है। वह दूसरी शादी नहीं करते पर सेक्स लालसा की पूर्ति के लिए एक पहाड़न को रखते हैं। इस उपन्यास में इन दो भाइयों की एक बहन भी है। काया जब अपनी बुआ के साथ अपने चाचा के घर जाती है और जब चाचा बुआ से कहते हैं कि तुम-

"...भाई के पास क्यों नहीं रह जाती? उनकी अपनी गृहस्थी है, तुम्हारा वहां मन भी लगता है।"

---

[17] निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011, पृ. 88

[18] *वही*, पृ. 135

"तुम उसे गृहस्थी कहते हो?" बुआ का स्वर एकदम तीखा हो आया। "वह खुद दिल्ली में रहता है, दोनों बच्चे अनाथों की तरह जंगलों में घूमते हैं- एक अकेली औरत, जो दिन रात खाली कमरों के चक्कर लगाती है- मैं आज तुम्हें बताती हूं, लामा को मैंने इस घर में भेजा, यह मेरी सबसे बड़ी गलती थी। अब तुम चाहते हो, मैं यहां आ कर रहूं?"[19]

अंतिम अरण्य के रिटायर्ड मिस्टर मेहरा का दांपत्य जीवन उनकी दूसरी पत्नी दीवा के साथ तो मधुर है परंतु मिस्टर मेहरा की पहली पत्नी उन्हें छोड़कर जा चुकी है। प्रश्न यहां यह है कि किसी दूसरे की तलाश महज़ पहले से ऊब के कारण मौजूद है या यह कंपैटिबिलिटी का प्रश्न है। और अगर यह चयन का प्रश्न है तो इस बात की क्या गारंटी है कि जो पहले के साथ हुआ वह दूसरे के साथ नहीं होगा। दरअसल यह वैवाहिक संबंधों के साथ साथ विवाह व्यवस्था का भी प्रश्न है जो सामाजिक शोध की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

(ड़) नगर बोध चित्रण

स्वतंत्रता पश्चात अधिकांश रचनाकारों ने महानगरीय जीवन के विभिन्न पक्षों को अपने लेखन का केंद्र बनाया। आजादी पश्चात "परंपरागत नैतिक मूल्यों का भी विघटन होने लगा। मध्ययुगीन सामंतवादी नैतिकता हमारे काम की चीज नहीं रह गई। हमारे आदर्श, जीवन पद्धति, समाज और परिवार- नीति, सब में युगानुकुल नए मूल्यों की प्रतिष्ठा की

[19] निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011, पृ. 127

मांग थी। जीवन की व्याख्या ही नए सिरे से करने का आग्रह किया गया, परंतु वह बहुत हद तक आर्थिक स्थिति में सुधार पर ही अवलंबित था। वह हो नहीं पाया। शासक वर्ग ने समाज से फासला बना लिया जो बढ़ता ही गया। जनता का विश्वास भी उठने लगा। चारित्रिक असंयम, भ्रष्टाचार, दायित्वहीनता और बेईमानी का नंगा नाच होने लगा। इसी समय यूरोप के साहित्य में महायुद्ध के पश्चात आशंका, भय, अनिश्चितता, मूल्यों का विघटन, पतनशील प्रवृत्तियों का उदय, जीवन के प्रति अनास्था, मृत्यु और वेदना की जीवन पर प्रतिष्ठा आदि आदि ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ ही एक सिरे से प्रकट होने लगी। इसका भी कुछ प्रभाव हम पर पड़ा।"[20]

निर्मल के उपन्यासों में जीवन की इन परिस्थितियों का जीवंत चित्रण मौजूद है। महानगरीय जीवन से उत्पन्न अजनबीपन, अकेलेपन एवं अपरिचय ने मनुष्य के अंदर दर्द, कुंठा और निराशा को उसके जीवन का आवश्यक अंग बना दिया। निर्मल की अधिकांश रचनाएं चाहे उपन्यास हो या कहानी शहरी जीवन पर केंद्रित है। उनका पहला उपन्यास 'वे दिन' की पृष्ठभूमि चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग शहर है। यह उपन्यास युद्ध के बाद लिखी गई है। परंतु यह पूरी रचना युद्ध और युद्धोत्तर मनःस्थिति में ही लिखी गई है। इस उपन्यास का कोई भी पात्र इंडी, रायना, फ्रांज, मारिया, टी. टी., सभी खंडित जीवन जी रहे हैं। इन सबके जीवन में शून्यता, निरर्थकता, परायापन, अवसाद, अलगाव, कुंठा एवं संत्रास छाया हुआ है। अधिकांश का जीवन यांत्रिक है या ट्रैजिक है।

---

[20] हरिशंकर परसाई, "नई कहानी", देवी शंकर अवस्थी (स), *नई कहानी: संदर्भ और प्रकृति*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 58

इंडी अपने और रायना के संबंधों पर सोचता है- "उस रात पहली बार मुझे लगा कि एक व्यक्ति दूसरे के लिए अंधेरा है- जैसे वह मेरे लिए थी, मैं उसके लिए। तीन दिन, तीन वर्ष... समय कुछ भी मानी नहीं रखता- अगर हम एक सुलगते क्षण में अंधेरे के बीच उस 'ताप' को पकड़ सके... यह जानते हुए भी कि वह जीवित नहीं रहेगा और यह जानते हुए भी कि उसके बुझने के बाद हम फिर दोबारा अपने अपने अंधेरे में ठिठुरने लगेंगे।"[21]

शहरी जीवन की यह विडंबना है कि आज का व्यक्ति संवेदनहीन हो चुका है। आधुनिक भौतिकवादी जीवन ने व्यक्ति को सुविधावादी तो बना दिया पर वह अपनी जड़ों से विच्छिन्न हो गया।

'एक चिथड़ा सुख' दिल्ली के महानगरीय जीवन शैली पर लिखा गया है । यहां डैरी, बिट्टी, नित्ती भाई, इरा, मुन्नू सभी यांत्रिक जीवन जीते हैं। बिट्टी इलाहाबाद से दिल्ली आती है अपनी अस्मिता की तलाश के लिए अपनी पहचान बनाने के लिए लेकिन वह डैरी से कहती है-

"मुझे नहीं मालूम डैरी, मैं सिर्फ दिल्ली छोड़ना चाहती हूं।"

वह वाक्य कुछ देर अंधेरे में जमा रहा।

"मैं दिल्ली छोड़ना चाहती हूं, "उसने दोबारा कहा, जैसे दूसरी बार की गरमाई पहली बार के नंगे, ठिठुरते वाक्य को अपने में ओढ़ रही हो।

"क्या इलाहाबाद लौट जाओगे?"

---

[21] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 181

"नहीं... वहां नहीं।"

"कहां जाओगी?"

"मुझे नहीं मालूम... और कहीं गई तो तुम्हें नहीं बताऊंगी।"

"क्यों?" मुझसे छुप कर भागने में शर्म आएगी?"

बिट्टी ने आंखें ऊपर उठाई।

"शर्म- तुमसे?" वह हंसने लगी, "नहीं, शर्म नहीं... मुझे तुमसे पूछने की जरूरत नहीं। तुमने सब कुछ देख लिया... बिहार, मरते हुए लोग, थिएटर... तुम सब कुछ जानते हो... तुम शायद नहीं जानते, मैं तुमसे कितनी छोटी हूं... मैं खुद देखूंगी।"

"देखोगी?"[22]

इस उपन्यास में ऐसा जिक्र है कि एक समृद्ध परिवार से आने वाले डैरी जिनके पिता के पास बड़ा सा बंगला है घर है वह इन सुखों को छोड़ कभी बिहार जाकर आ चुके हैं, वहां उन्होंने भूख और गरीबी देखी है लेकिन कैसी भूख और कैसी गरीबी, इसका कोई स्पष्ट संकेत यहां मौजूद नहीं है। बिट्टी की तुलना भी लेखक ने कई बार मदर टेरेसा से की है। नित्ती भाई लंदन रिटर्न आर्किटेक्ट है और उनके व्यक्तित्व में एक खास आकर्षण है आदि। नित्ती भाई की पत्नी है, बच्चे हैं लेकिन उनका इरा के साथ विवाहेत्तर संबंध है। वह ना ही अपनी पत्नी के साथ न्याय कर पाते हैं और ना ही इरा को अपना पाते हैं और अंततः आत्महत्या कर लेते हैं। कुल मिलाकर उपन्यास में सभी के पास कुछ करने का लक्ष्य है

[22] निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011, पृ.175

लेकिन सभी बस भटकते रहते हैं। स्ट्रिनबर्ग का थिएटर चलता रहता है और कहानी उसी के साथ आगे बढ़ती रहती है।

कृष्ण दत्त पालीवाल ने इस उपन्यास के बारे में लिखा है- "दुख का मन निर्मल वर्मा की भाषा में संघर्ष करता है और उसकी पहचान बनती है। क्योंकि दुख साथ-साथ चलता है। साथ होते हुए भी दुख से मुठभेड़। किशोर मुन्नू का संघर्ष, बिट्टी और डैरी, इरा और नित्ती के बीच का तनाव भरा संघर्ष।"[23]

इस पूरे उपन्यास में संघर्ष है पर यह निरर्थक संघर्ष है। इन सभी पात्रों के चरित्र के बारे में डैरी की बहन का कथन बिल्कुल सटीक है। वह मुन्नू से कहती है-

"कैसा पार्ट?" एक अजीब हिकारत में उसके होंठ खुल गए, "वह अपने को धोखा दे रहे हैं।"

"धोखा?"

"दे आर रुइनिंग देयर लाइवस... 'रुइनिंग' का मतलब जानते हो?"

वह हंस रही थी।

"बर्बाद करना, खत्म कर देना, तबाह कर देना।" उसने कहा।[24]

रात का रिपोर्टर का रिशी कॉलेज में अध्यापन का कार्य छोड़ कर रिपोर्टर का काम चुनता है और इसी बड़े उद्देश्य से वह बस्तर जाता है। और उसे लगता है कि बस्तर में इकट्ठा

---

[23] कृष्ण दत्त पालीवाल, *निर्मल वर्मा और उत्तर औपनिवेशिक विमर्श*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ. 176

[24] निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011, पृ. 95 96

किए सूचनाओं से देश और समाज का भला कर सकता है लेकिन किसी अज्ञात का बार बार आया फोन और उससे उत्पन्न मनः स्थितियों के बीच रिशी ऐसे मानसिक संकट में उलझता चला जाता है जहां अंततः वह अवसाद, कुंठा और तनाव का शिकार हो जाता है।

लाल टीन की छत की काया के पिता का जीवन भी शहर और पहाड़ों के बीच बँटा है। अपने परिवार को इन्होंने शिमला में रखा है और खुद अपने कार्य के सिलसिले में वे दिल्ली और शिमला के बीच फंसे हुए हैं। यह उपन्यास शहर से ज्यादा पहाड़ी जीवन पर केंद्रित है लेकिन पहाड़ों पर रहने वाले स्थानीय व्यक्ति या उनके जीवन या रीति रिवाज से नहीं बल्कि शहरी उन्मूलित परिवार के जीवन से। काया ऐसे ही परिवार की लड़की है ।उसकी सारी समस्याएं आधुनिक जीवन की समस्याएं हैं। किशोरावस्था से गुजर रही काया अपने पिता के शहर में रहने और मां के ज्यादातर बीमार रहने के कारन अकेलेपन और अलगाव के बोध से ग्रस्त है। शहरी जीवन की यही विडंबना है।

'अंतिम अरण्य' का कथावाचक पहाड़ पर सिर्फ जीविका के लिए नहीं आता बल्कि शहरी जीवन की निरुदेश्यता के बीच वह अपने को तलाशता मिस्टर मेहरा के पास पहुंचता है। इस प्रकार निर्मल वर्मा की रचनाओं में नगरीय जीवन की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।

(च) धार्मिक मान्यताएं एवं परंपराएं

निर्मल की रचनाएं किसी विशेष धर्म से जुड़ी नहीं है पर उनकी ऐसी रचनाएं जो पहाड़ी जीवन पर केंद्रित है उनमें देवी-देवताओं खासकर शक्ति रूप की कुछ अर्थों में अभ्यर्थना की गई है। जैसे *लाल टीन की छत* की काया काली मां की उपासना करती है। काया किशोर लड़की है जिसके मन में देवी देवता संबंधी कई तरह के प्रश्न उठते हैं और जब दाई

मां का या की मां के इलाज के दौरान कुछ टोटके के लिए मूंगे की माला देती है और कहती है पुजारी को मत दिखाना इस माला को काली के पैरों में फेंक देना। काया की मां दाई मां से कहती है कि इसे डराओ मत। काया को लगता है कि वह विशिष्ट है इसलिए उसे इस कार्य के लिए चुना गया है। वह फ़ैंटेसाइज करती है स्वयं को।

"सर्दी की सुनी लंबी दुपहरी में, जब बाबू दिल्ली चले जाते थे और घर में किसी का डर नहीं होता था, वह घर के पिछवाड़े छज्जे पर बैठ जाती थी। आंखें मूंद लेती थी। छोटा, संकरा छज्जा हवा में हिलता रहता। गले के भीतर एक सूखी, अतृप्त आंख जलने लगती। मां चंडिका, काली मां, आओ, मेरे पास चली आओ! आओ, देखो, मैं तुम्हारे लिए बैठी हूं। तुम्हारे लिए मैं सब कुछ छोड़ दूंगी। जहां तुम कहोगी, वहीं चली जाऊंगी। एक पगली मुस्कुराहट में उसके होंठ खुल जाते, तेजी से फड़फड़ाने लगते। लगता, जितना अधिक वह अपनी देह को कष्ट देगी, उतनी ही काली मां का विश्वास उस पर जमता जाएगा।"[25]

इसी तरह *अंतिम अरण्य* कि अन्ना जी और तिया शिमला के तारा देवी मंदिर की बात करती हैं और उनमें अगाध आस्था प्रकट करती है। अन्ना जी तिया से बताती है कि अगर वह काली मां के मंदिर नहीं जाती तो आज उसके समक्ष जीवित नहीं बैठी होती। कैसे वह डिप्रेशन से गुजर रही थी और तब वह मंदिर गई थी और उन्हें वैसी शांति मिली। यह प्रकरण आस्था और विश्वास को प्रकट करता है। अन्ना जी कहती है कि जब आरती के बाद सभी मंदिर से निकल गए - "मैं उनसे छिपकर एक किनारे पर खड़ी हो गई। जब मुझे लगा, सब लोग चले गए हैं, तो मैं भीतर चली आई... बिल्कुल मंदिर के दरवाजे की देहरी

[25] निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011, पृ. 101 102

पर... और जब मैंने अपनी आंखें ऊपर उठाई, तो मैंने देखा... धूप, अगरबत्तीओं और कपूर की लपटों से उठते हुए धुएं के बीच सिंहासन पर मेरी दादी बैठी है... बिल्कुल वैसी ही, मुझे अपनी स्नेह-भरी आंखों से निहारती हुई, जैसे मैं अब भी बच्ची हूं और वह अब भी जीवित हैं... और तब मैं वही मंदिर की देहरी पर बैठ गई और- रोने लगी। मुझे लगा, मेरे भीतर का कोई फोड़ा फूट गया है, जो पता नहीं, कितने दिनों से मेरे भीतर पक रहा था।"[26]

निर्मल की रचनाओं में धर्म संबंधी यह बातें आस्था और अनास्था से जुड़ी हुई है। यहां पहाड़ी जीवन या स्थानीय परंपरा और उनके जीवन संबंधी तत्वों पर बहुत बातें नहीं की गई हैं।

(छ) संस्कृतियों का अंतर

निर्मल के व्यक्तित्व का निर्माण भारतीय संस्कृति और पश्चिमी सभ्यता के बीच हुआ है। उनकी शिक्षा-दीक्षा जहां अंग्रेजी माध्यम में हुई वहीं लालन-पालन भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में। निर्मल ने लंदन, पेरिस, चेकोस्लोवाकिया, इटली, आदि कई देशों की यात्रा की थी और उन्हें नजदीक से जाना था। वह वैसे रचनाकार थे जो भारतीय और यूरोपीय संस्कृति के अंतर को बारीकी से समझते थे। उन्होंने अपने कई निबंध संग्रहों जैसे 'शब्द और स्मृति', 'कला का जोखिम' और 'ढलान से उतरते हुए' आदि में भारतीय और यूरोपीय संस्कृति संबंधित प्रश्नों पर गंभीरता से विचार किया है । इसलिए उनकी

[26] निर्मल वर्मा, *अंतिम अरण्य*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011, पृ. 113

रचनाओं में विभिन्न संस्कृतियों का प्रक्षेपण है। इंडी भारतीय है; रायना ऑस्ट्रिया से है; टी. टी. बर्मी है; फ्रांज जर्मन है तो मारिया चेक। यूरोपीय युद्धोत्तर पृष्ठभूमि में रचा गया उपन्यास 'वे दिन' पश्चिमी वातावरण को व्यंजित करता है पर उसमें जो सवाल हैं वह भारतीय हैं। इंडी विद्यार्थी है और स्कॉलरशिप पर अपना जीवन गुजार रहा है, वह घर से किस तरह विच्छिन्न है और आर्थिक अभाव में वह रायना के साथ टूरिस्ट गाइड की भूमिका में है क्योंकि उसे चेक भाषा भी आती है और अंग्रेजी भी। इस उपन्यास में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अच्छा सम्मिश्रण है। निर्मल के कई उपन्यासों के पात्र ऐसे ही हैं। मिस जोसुआ, अन्ना जी जैसे पात्र ऐसे ही हैं। वो उतने ही भारतीय हैं जितना की यहां रहने वाले पात्र। अन्ना जी से कथावाचक पूछता है कि वह हिंदुस्तान में क्यों है? अन्ना जी कहते हैं - "हिंदुस्तान आपके लिए होगा... मेरे लिए तो यह पहाड़ी शहर ही सब कुछ है... यह मेरा घर है... आपका हिंदुस्तान मुझे यहां से उतना ही दूर लगता है, जितना अपना जर्मनी!"[27]

लेखक ने इन पात्रों का विश्लेषण अत्यंत सजगता और आत्मीयता से किया है। निर्मल जी ने इनकी तुलना ऐसे बूढ़ी जादूगरनी से की है जिन्होंने आजादी पूर्व और बाद न जाने कितने रहस्य अपने अंदर छुपा रखे हैं।

इस उपन्यास के अन्य महत्वपूर्ण पात्र जैसे मिस्टर मेहरा, दीवा, डॉ. निरंजन बाबू अलग-अलग पृष्ठभूमि से आने वाले उच्च मध्य वर्गीय और मध्यवर्गीय पात्र हैं। मिस्टर मेहरा

[27] वही, पृ. 31

रिटायर्ड आई. ए. एस. ऑफिसर हैं। उनकी बेटी तिया डॉक्टर है। डॉक्टर निरंजन बाबू व्यापारी भी हैं और दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर भी हैं। ये आधुनिक भी हैं और अपनी संस्कृतियों से जुड़े भी।

इसी तरह *लाल टीन की छत* उपन्यास में संस्कृतियों का द्वंद देखने को मिलता है। एक तरफ काया के पिता, चाचा आदि आभिजात्य भारतीय संस्कृति से जुड़े हैं तो दूसरी तरफ नथ वाली औरत पहाड़ी संस्कृति से और बंसी, मुरलीधर, ननकू जैसे निम्न वर्गीय पात्र इन की तामीरदारी में अपना जीवन गुजार रहे हैं। *एक चिथड़ा सुख* के डैरी अपने घर से सुखी संपन्न होते हुए भी मध्यवर्गीय बिट्टी की बरसाती में रहना ज्यादा पसंद करते हैं। *रात का रिपोर्टर* का रिशी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी है वही दयाल बाबू, राय साहब साधन संपन्न लोग हैं।

इस प्रकार विभिन्न वर्गों से आने वाले यह पात्र सांस्कृतिक दूरी के बावजूद एक साथ जी रहे हैं।

निर्मल वर्मा के उपन्यासों में अभिव्यक्त वैयक्तिक यथार्थ

(क) अस्तित्ववादी चिंतन

यथार्थ के प्रति परिवर्तित दृष्टि और जटिल होते संबंधों ने व्यक्ति को अस्तित्ववादी बना दिया । निर्मल वर्मा अस्तित्ववादी दर्शन में आस्था रखने वाले रचनाकार हैं। इनके पात्र निरंतर उलझते संबंधों के बीच अपने अस्तित्व की तलाश निरंतर भटक रहे हैं। जिसके कारण पात्रों में असुरक्षा की भावना, मृत्यु बोध, अकेलापन, कुंठा, संत्रास, शून्यता आदि

ने अपनी जगह बना ली है। इनके उपन्यास के अधिकांश पात्र अपने अस्तित्व की खोज में प्रयत्नशील हैं, वे अपनी निजी जीवन से कोई भी समझौता नहीं करना चाहते। 'वे दिन' उपन्यास में मानव संबंधों की ऐसी ही व्याख्या है। इंडी, रायना, मारिया, फ्रांज, आदि सारे पात्रों का अपना-अपना व्यक्तित्व है। युद्धोत्तर परिस्थितियों में जी रही रायना अपने परिवेश से उदासीन हो चुकी है। वह युद्ध की मनोदशा से निकल ही नहीं पाती और वेदना में जीती है। अपने व्यक्तित्व की तलाश में वह अपने पति से अलग हो अलग-अलग देशों में भटकती रहती है। इंडी को लगता है कि तीन दिनों के सानिध्य में रायना उसे चाहने लगी है पर रायना के लिए अपना स्वत्व ज्यादा महत्वपूर्ण है। इंडी कहता है- "उसने मुस्कुराते हुए मेरा हाथ अपने हाथ में दबा लिया... हथेलियों के उस गरम दबाव में एक हल्की सी कृतज्ञता छिपी थी... अनिर्वचनिय, अंतहीन। पहली बार मुझे लगा, जैसे इस शाम तक हम दोनों के बीच जो रिश्ता था, वह अब नहीं है। वह बदल गया था, स्वतः और अनायास।"[28]

'एक चिथड़ा सुख' उपन्यास में अस्तित्व के प्रश्न पर बिट्टी, डैरी, नीति भाई, इरा, मुन्नू आदि के माध्यम से विचार किया गया है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र बिट्टी अपने स्वत्व की तलाश में ही इलाहाबाद से दिल्ली रहने आई है। बिट्टी दिल्ली में एक बरसाती में रहती है और कई तरह की परेशानियां उठाती है फिर भी वह घर वापस नहीं जाना चाहती। उससे लगता है वह यहां कुछ कर सकती है, अपने को पा सकती है। थिएटर ही

[28] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 180

उसकी जिंदगी है ।स्ट्रीनबर्ग का नाटक और बिट्टी का संघर्ष दोनों साथ साथ चलता है। मुन्नू बिट्टी का कजिन है और इस उपन्यास का नैरेटर भी। मुन्नू अक्सर बीमार रहता है और इलाज के लिए कुछ दिनों के लिए जब बिट्टी के पास आता है तब उसके पिता उससे कहते हैं- "देखो, तुम बिट्टी के घर जा रहे हो, वहां सबसे अलग रहना। बिट्टी की अपनी जिंदगी है, अपने दोस्त- वहां ऐसे रहना, जैसे तुम हो ही नहीं।"[29]

अपने अस्तित्व को पाने की भूख 'रात का रिपोर्टर' रिशी में भी देखने को मिलता है। रिशी आधुनिक जीवन शैली के द्वंद और विडंबनाओं को रेखांकित करने वाला सशक्त पात्र है। एक तरफ वह कॉलेज के अध्यापन कार्य छोड़ कर रिपोर्टर बन जाता है और बस्तर जा कर वहां की समस्याओं को सबके सामने लाना चाहता है लेकिन आपातकाल की राजनीतिक स्थिति में उसके पीछे कुछ खुफिया एजेंसी लग जाती है जो सरकार के पक्ष में कार्य कर रही होती है। दूसरी तरफ उसका निजी जीवन जो पत्नी उमा और प्रेमिका बिंदु के बीच बँटा हुआ है। बिंदु और रिशी दोनों एक साथ काम करते हैं। बिंदु, रिशी से ज्यादा स्वतंत्र, सुलझी और आत्मनिर्भर पात्र है परंतु अपने स्वत्व के प्रति वह सजग है। वह उमा के बारे में जानने के बाद भी रिशी से प्यार करती है, लेकिन वह उसे अपने ऊपर हावी नहीं होने देती उसके स्वतंत्र स्वभाव को देख कर रिशी को लगता है कि- "क्या यही लड़की बिंदु है? मैं उसे छूकर देखूंगा, क्या तुम वह हो, जो यहां मेरी बाट में बैठी हो? वही ताजा, चमचममाता, युवा चेहरा; साँवला, शांत, एकाग्र; उसकी सब धुकधूकियों का

[29] निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011, पृ. 123

केंद्र, किंतु अपने में निपट निश्चल... पिछले तीन सालों में वह उसके भीतर पौधे-सी उग आई थी, किंतु जब वह उसे बाहर देखता था, तो वह उसे बिल्कुल स्वतंत्र जान पड़ती थी, जिसका उसकी अंदरूनी कीचड़ से कोई लेना-देना नहीं था। कितनी बार उसने घृणा की है उससे, उसकी इस आत्मलिप्त स्वतंत्रता से, बिना यह जाने कि वही यह पानी है, जिससे वह पौधा दिन-पर-दिन उसकी दलदल और दहशत को चीरता हुआ पनपता जाता है..."[30]

अंतिम अरण्य का कथावाचक अपने अस्तित्व की सार्थकता की तलाश में ही पहाड़ी कस्बे में आता है। जहां वह मेहरा साहब का बायोग्राफी डिक्टेट करता है। इसी उपन्यास के निरंजन बाबू भी शहर में रहते हैं पर वहां अपने को अधूरा पाते हैं और पहाड़ी पर सेब के बगीचे लगाकर अपने को व्यस्त रखना चाहते हैं। उनका यह भटकाव व्यवसाय नहीं है बल्कि अपने आप को पाने की कोशिश में किया गया प्रयास है।

(ख) अकेलापन

"समकालीन मनुष्य का भयावह अकेलापन निर्मल वर्मा के लेखन के केंद्र में रहा है। वे अपनी डायरी में लिखते हैं 'मैं हमेशा अकेलेपन पर शोक करता रहा हूं...' और इस वाक्य को पढ़ते वक्त हमें उनके ऐसे कितने ही पात्रों की स्मृतियां घेरती हैं जो अपने अकेले कमरों में, सड़कों पर, पार्कों या पबों में या अस्पताल के कमरे में अपने अकेलेपन से मुक्त होने की छटपटाहट लिए हुए अकेले होने की घनघोर यातना को सहन करते रहते हैं,

[30] निर्मल वर्मा, *रात का रिपोर्टर*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2010, पृ. 69

समझाते रहते हैं। अकेलापन उनके समूचे लेखन की वह केंद्रीय थीम रही है, जिस पर अलग-अलग नजरियों से बहुत कुछ लिखा जा सकता है।"[31]

'अकेलापन' सिर्फ निर्मल की रचनाओं में ही नहीं बल्कि स्वतंत्रता पश्चात की अधिकांश रचनाओं में किसी न किसी रूप में मौजूद है। सामान्यतः भारतीय समाज व्यक्ति को यह गुंजाइश नहीं देता कि वह अकेला रह कर स्वतंत्र जी सके। लेकिन आधुनिक भारत में संपत्ति और भौतिक सुविधाओं को एकत्रित करने की जो होड़ लगी है उसमें सामाजिकता कहीं विलुप्त सी हो गई है। कभी दांपत्य जीवन में आया दरार तो कभी रिश्तों की खटास से उत्पन्न पारिवारिक उदासीनता ने व्यक्ति को अकेला कर दिया है। साधारणतः निर्मल वर्मा की रचनाओं पर यूरोपीय वातावरण और उसके प्रभाव का आरोप लगाया जाता है और अकेलेपन को उस प्रभाव से उत्पन्न परिणाम के रूप में देखा जाता है। पर क्या भारतीय वातावरण में इसे अक्षरसः लागू किया जा सकता है? स्पष्टतः नहीं परंतु भारतीय परिवेश के लिए अब यह आयातित नहीं है। बल्कि संयुक्त परिवार के टूटते मूल्य, यांत्रिक सभ्यता, संबंधों की विच्छिन्नता शहरीकरण, कृत्रिम भौतिकता ने इसे अपरिहार्य बना दिया।

निर्मल वर्मा के उपन्यास का लगभग हर पात्र किसी न किसी रूप में अकेले रहने के लिए अभिशप्त है। 'वे दिन' का इंडी घर से दूर अकेले रहता है लेकिन वह ऐसे ही रहना चाहता है। 'रायना' अपने पति से अलग हो चुकी है और अकेले रहती है। मारिया और फ्रांज भी

---

[31] जयशंकर, "विकल तीर्थयात्री के साथ", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ.143

अकेलेपन की पीड़ा को झेल रहे हैं। इंडी को लगता है कि वह 'रायना' के सुख दुख का हिस्सा है पर उसे सच का एहसास होता है जब वह रायना के साथ होता है।

"उसकी देह धीरे से हिली, फिर ठहर गई।

"मीता आता होगा..." उसने कहा। उसने अपने चेहरे को बहुत धीमे से मेरे मुंह से अलग कर दिया। मुझे लगा, मैं वापस लौट आया हूं, लेकिन उसी जगह नहीं, जो चंद लमहे पहले छूट गई थी... मुझे वह भयावह-सी लगी- वह अ-पहचान, जो हम दोनों के बीच चुपचाप चली आई थी।

"रायना..." मैंने अपने हाथ उसके चेहरे पर रख दिए... उसके होठों पर, उसके गालों पर... जैसे महज उसे छूने-भर से मैं उस पुरानी पहचान को वापस खींच लाऊंगा।"[32]

लाल टीन की छत की काया, उसके पिता, उसके चाचा, वीरू, लामा, छोटे या मिस जोसुआ सभी अकेलेपन से त्रस्त हैं। मिस जोसुआ युद्ध के बाद पति के साथ जाने की जगह अकेले पहाड़ी पर रहना पसंद करती है। काया के पिता अपने पूरे परिवार को शिमला में छोड़कर दिल्ली में रहते हैं। मिस जोसुआ को लगता है कि कैसे कोई अपने परिवार को छोड़कर कभी पहाड़ी पर रहता है और कभी शहर में। 'काया' की माँ बीमारी और गर्भावस्था के बीच अकेले रहती है। लामा विवाह नहीं करना चाहती है अकेले रहना चाहती है। काया के चाचा शिमला से और भी ऊंची पहाड़ी फॉक्सलैंड में रहते हैं ताकि उनके अकेलेपन में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न ना हो। यहां तक की एक ही घर में

[32] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 116

रहने के बाद भी वीरू की अपने पिता से कोई बात नहीं होती और वह अकेले रहता है। अपने अकेलेपन से मुक्ति के लिए वह जुराबे बुनता है और उसे उधेरता रहता है। और इस उपन्यास की केंद्रीय पात्र काया तो पूरे जंगल में अकेले भटकती रहती है। दाई माँ जो उसकी माँ को देखने आई है उससे कहती है- "डरो नहीं, यह मैं हूं। दाई-मां ने उसे कंधों से खींचकर पलंग के पैताने पर बिठा दिया। बिस्तर हिला, तो मां की आंखें झपाट से खुल गई। कहा कुछ नहीं, एकटक काया की तरफ देखती रही। प्यार से नहीं, चिंता से भी नहीं, सिर्फ अपने अलगाव की फरफ़राती लौ में काया को टटोलती हुई। देख, इधर देख...! दाई-मां की फुसफुसाती थी आवाज सुनाई दी। एक रूखे झटके से उन्होंने काया की ठुड्डी उठा दी। कहां भटकती रहती है दिन-भर? मुझसे बचकर कहां जाएगी?"[33]

एक चिथड़ा सुख के पात्र भी अकेलेपन में भटक रहे हैं। बिट्टी अपने परिवार को इलाहाबाद में छोड़कर अकेले दिल्ली में रहती है। नित्ती भाई का घर है, पत्नी है, बच्चे हैं पर वह उनसे अलग रहते हैं।

अंतिम अरण्य का कथा वाचक 'मैं' अपने अकेलेपन को सुरक्षित रखने के लिए ही अपने घर को छोड़ पहाड़ी पर आता है। इसी उपन्यास के डॉक्टर मेहरा की बेटी 'तिया' अपने पिता को छोड़ अकेले रहती है और उनसे दूर भी। निर्मल के उपन्यासों में ज्यादातर पात्र अकेलेपन को स्वयं चुनते हैं। *लाल टीन की छत* की 'मिस जोसुआ', काया के चाचा, *अंतिम अरण्य* का कथा वाचक, अन्ना जी इत्यादि ऐसे ही पात्र हैं। इसी उपन्यास के

[33] निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011, पृ. 99

निरंजन बाबू जैसे पात्र अकेले रहने के लिए जयपुर में अपनी बसी-बसाई गृहस्थी छोड़कर शिमला में सेब का बगीचा लगाने आते हैं।

इस प्रकार निर्मल वर्मा के उपन्यासों में अकेलापन व्यक्तित्व का हिस्सा भी है और परिस्थितिजन्य भी।

(ग़) गृह वितृष्णा

चाहे निर्मल वर्मा की कहानी हो या उपन्यास घर की चर्चा किसी न किसी रूप में मौजूद है। अपने घर से दूर विदेशों में पढ़ने वाले छात्रों के लिए घर यथार्थ से ज्यादा यादों में बसी है।

वे दिन के कथावाचक 'इंडी' के लिए घर का कोई महत्व नहीं है। घर उनके स्मृति में शेष है लेकिन निर्मल के पात्र स्मृति में ज्यादा जीते हैं इसलिए यह कहना ज्यादा उचित है कि घर का ना होना कहीं ना कहीं घर की जरूरत से संबंधित है। दोस्तों के साथ शराब पीते वक्त कथावाचक घर संबंधी अपने दृष्टिकोण व्यक्त करता है-

> "हम ऐसे वर्षों में घर को छोड़कर चले आए थे जब बचपन का संबंध उससे छूट जाता है और बड़प्पन का नया रिश्ता जुड़ नहीं पाता। अब घर बहुत अवास्तविक-सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज हो, दूसरे की स्मृति। उसका मतलब यहां कुछ भी नहीं था। पहले जो भी मतलब रहा हो; वह दिन, महीनों,

वर्षों के साथ धुँधला पड़ता गया था। अब वह अर्थहीन था- और किंचित हास्यास्पद।"[34]

इस उपन्यास के अन्य पात्र रायना, फ्रांज, टी टी, मेलंक़ोविच सभी का घर से कोई खास लगाव नहीं है ।

लाल टीन की छत उपन्यास की काया, उसके पिता, मिस जोसुआ सभी गृह वितृष्णा से ग्रस्त हैं। काया का पूरा परिवार शिमला में रहता है पर उसके पिता दिल्ली में काम करते हैं और बीच-बीच में आते हैं। उसकी मां ज्यादातर बीमार रहती है। काया और उसका भाई छोटे दोनों दिन भर इधर-उधर जंगलों में भटकते रहते हैं। मिस जोसुआ काया के घर के निचले हिस्से में रहती है। वह पहली लड़ाई के दिनों में शिमला आई थी। उनके पति अपने देश लौट गए पर वह यहीं रह गई। काया के पिता के जाने पर इन बच्चों को भटकते देख वह उनके प्रति स्नेहशील हो जाती हैं। उन्हें वह अपने पास बुला लेती है। वह "कभी काया को देखती, कभी छोटे को- जैसे वे कोई हिंश्र वनैले जंतु हो, छिले हुए घुटने, धूल में अटे बाल, भूखी, भाँय-भाँय करती आंखें...छिः-छिः-छिः ! वह मुंह बिचकाकर उन्हें अपनी छड़ी से छूती, योर फादर गॉन? वह जानते हुए भी पूछती, जैसे बाबू के जाने के बाद ही उनकी यह दुर्दशा हुई है, फिर खड़ी हो जाती, एक क्षण असमंजस में कुछ सोचती रहती, फिर अंतिम निर्णय लेकर उन दोनों के सामने बहुत गंभीर स्वर में आमंत्रण देती- मैंने कुछ

[34] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 28

केक बनाए हैं, भीतर आओगे? और वह दोनों चुपचाप उनके पीछे-पीछे कमरे में चले आते।"[35]

एक चिथड़ा सुख के सभी पात्र बिट्टी, डेरी, इरा, मुन्नू, नित्ती भाई सभी थिएटर की दुनिया में इस तरह रमे हुए हैंदर्य, उन्हें घर से कोई खास फर्क नहीं पड़ता।

रात का रिपोर्टर रिशी अपने ही घर में शरणार्थी की तरह रहता है। वह सोचता है कि बहुत पुरानी बात नहीं है- "तब उसकी बड़ी बहिन अपने पति के साथ कनाडा चली गई थी और बाबू दूसरी दुनिया में... अचानक एक दिन ऐसा आया था कि मकान वही था, किंतु कमरे सब खाली पड़े थे। सिर्फ उनके पुराने नाम अभी बाकी रह गए थे, बाबू का कमरा अलग, बहिनों के कमरे अलग... और उनमें कनाडा वाली बहिन का कमरा मरी हुई बहिन के कमरे से सटा हुआ... वह और माँ उन कमरों में कुछ वैसे ही रहते थे जैसे पार्टीशन के बाद उसने दिल्ली के परित्यक्त उजाड़ घरों में शरणार्थियों को रहते देखा था... हां, ऐसा होता है। दो-तीन पीढ़ियों के बाद लोग अपने पिता-पितामहों के घरों में शरणार्थियों की ही तरह रहने लगते हैं- और इनमें उन्हें जरा भी आश्चर्य नहीं होता।"[36]

निर्मल वर्मा के अंतिम उपन्यास *अंतिम अरण्य* का कथावाचक भी गृह वितृष्णा से ग्रसित है। वह अपने घर से दूर रहने के लिए ही दीवा के ऑफर को स्वीकार करता है। उसे इस बात से आश्चर्य होता है जब निरंजन बाबू उससे कहते हैं कि तुम अपने जीवन की शुरुआत

---

[35] निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011, पृ. 22

[36] निर्मल वर्मा, *रात का रिपोर्टर*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2010, पृ. 36-37

में ही आ गए। उसे लगता है वह अपने जीवन के " क्राइसिस ऑफ मिडल एज" से गुजर रहा है और यहां से निकलना उसके लिए आवश्यक है। वह सोचता है "मां बाप का होना ना होना एक जैसा ही लगता था, बाबू की मृत्यु के बाद में छोटे भाई के पास ऑस्ट्रेलिया चली चली गई थी... पीछे उनका घर मेरे पास रह गया था, जो अब खाली था। खाली तब भी जान पड़ता था, जब वह साथ रहते थे। जब अन्ना जी ने मुझ से मुस्कुरा कर पूछा था कि मेहरा साहब के साथ रहकर तुम्हें खालीपन नहीं लगता, तो मुझे अचरज हुआ था। पता नहीं चला, वे कौन से खालीपन की बात कर रही है। साथ रहने का खालीपन क्या साथ रहते हुए पता चलता है?"[37]

उपन्यास की एक और महत्वपूर्ण पात्र हैं अन्ना जी। वह दूसरी लड़ाई से पहले जर्मनी छोड़कर भारत आई थी और अब यही की हो कर रह गई थी। इसी तरह मिस्टर मेहरा जो कभी आई ए एस की नौकरी में थे, रिटायरमेंट के बाद अपना सब कुछ छोड़ यहीं रहने के लिए आए हैं। निरंजन बाबू भी लाल टीन की छत के काया के पिता की तरह छः महीने पहाड़ों पर रहते हैं और छः महीने अपने कार्यस्थल पर। उनका समय गृहस्थ जीवन और सेब के बगीचे में बटा हुआ है- "यहां आते ही मुझे जयपुर की जिंदगी बिल्कुल पराई जैसी जान पड़ती है... जैसे उसे कोई दूसरा आदमी जी रहा था। और जब मैं वहां जाता हूं, तो कुछ दिनों बाद यह सोचना भी अजीब लगता है कि यहां भी कोई सेबों का बगीचा है,

[37] निर्मल वर्मा, *अंतिम अरण्य*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011, पृ. 42

कोई ऐसी जगह जहां तुम और अन्ना जी और डॉक्टर सिंह और मेहरा साहब रहते हैं..." उन्होंने रम का घूंट लिया, निश्चित ही पाई पर रखते हुए मेरी ओर देखा, "कभी तो समझ में नहीं आता... कौन सी जिंदगी असली है, यह या वह..." कुछ देर चुप रहे, फिर धीरे से कहा, " या दोनों में से कोई नहीं।"[38]

यह सिर्फ इन पात्रों के जीवन का सत्य नहीं है यह आज के आधुनिक समाज की विसंगतियां है जो हर वातावरण में मौजूद है।

(घ) मृत्यु बोध

निर्मल के उपन्यास हो या कहानी मृत्यु या मृत्युबोध या आसन्न मृत्यु किसी न किसी रूप में मौजूद है। कभीयह बीमारी के बाद आता है, कभी बुढ़ापे की परिणति के रूप में, कभी जीवन से विमुखता तो कभी आत्महत्या के रूप में प्रकट होता है। उनकी कृतियों में जीवन और मृत्यु का तनाव पूर्ण रिश्ता है।

निर्मल का पहला उपन्यास 'वे दिन' पूरी तरह युद्धोत्तर परिस्थिति और युद्ध के समय की मृत्यु की छाया के इर्द-गिर्द ही मंडराती रहती है। रायना इंडी से कहती है कि उसे कभी-कभी अजीब सा डर लगता है। इंडी उससे पूछता है -

"कैसा डर, रायना?"

"घर की शांति से।" उसने धीरे से कहा। "कोलोन में हमने कभी नहीं सोचा था कि हम जीवित रहेंगे। मरना तब बहुत पास था और आसान भी। हम शायद इसलिए

[38] वही, पृ. 60-61

साथ रहने लगे थे... लड़ाई में बहुत लोग मरते हैं- इसमें कुछ अजीब नहीं है... लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं- शांति के दिनों में... हम उनमें से थे।"[39]

स्पष्ट है कि मृत्यु की छाया से यहां अगली पीढ़ी भी मुक्त नहीं है।

आज के समय में "मृत्यु संबंधी हमारे विचारों में एक खास तरह की संकीर्णता और पिछड़ापन छिपा है जबकि पुराने समय के चिंतकों के बीच मृत्यु का विचार बहुत अधिक खुला हुआ, आलोकित और संपूर्ण दिखाई देता है। हम भले ही अपने सगे संबंधियों, मित्रों और पड़ोसियों की मृत्यु पर अपनी भावनाओं को व्यक्त करते रहे किंतु शायद ही अपनी खुद की मृत्यु के बारे में गंभीरता से सोचते हैं।"[40]

लाल टीन की छत की मिस जोसुआ छोटे के बारे में काया से पूछती है कि उसने स्कूल जाना शुरू किया? और काया के यह कहने पर कि अभी नहीं अगली गर्मियों से शुरू करेगा।

"अगली गर्मियों में!" मिस जोसुआ का चेहरा एकदम ढीला पड़ गया, चेहरे की असंख्य झुर्रियां अपने-अपने बिलों से निकलकर जहां जगह मिली, वहां नाक, ठुड्डी, आंखों के नीचे पसर गई। "पता नहीं, तब तक मैं रहूंगी भी या नहीं!"

---

[39] निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010, पृ. 188

[40] जयशंकर, "विकल तीर्थयात्री के साथ", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 139

सहसा छोटे के हाथ ठिठक गए। मुंह में रखा के खुद-ब-खुद पिघलने लगा, "क्या आप कहीं बाहर जा रही हैं मिस जोसुआ?"[41]

मिस जोसुआ कहती है कि संजौली के पास, जो सिमिट्री है वह वही जाएंगी। मिस जोसुआ को अपने आसन्न मृत्यु का भान है।

"मिस जोसुआ का अपने अकेले घर में मरना; यहां हर जगह मृत्यु अपने शाश्वत जीवन और अनिवार्य यथार्थ का रहस्य लिए हुए, हमारी आत्मा के दरवाजों पर दस्तक देती रहती है। मृत्यु और जीवन का यह अनिवार्य और आत्मीय संबंध, उनकी कृतियों में हर बार कोई अलग और नई अंतर्दृष्टि लिए हुए उतरता है और कभी-कभी मृत्यु से जुड़े हुए उनके किसी अंश को पढ़ते हुए मुझे उन प्राचीन संतों के उदास वैभव और आत्मीय विजन का ख्याल आता है जिन्होंने अपना जीवन प्रकृति के इस तत्व को समझने में समझाने में गुजारा था।"[42]

एक चिथड़ा सुख में मृत्यु संबंधी सवाल बिट्टी, डेरी, नित्ती भाई और मुन्नू के माध्यम से उठाया है। नित्ती भाई की आत्महत्या के बाद मुन्नू पुराने समय को याद कर रहा होता है, वह सोचता है; किसी के जाने से जिंदगी रुकती नहीं बल्कि अनवरत चलती रहती है पूर्ववत। परंतु क्या वह वैसी ही रहती है? जैसे किसी के जाने से पहले थी।

---

[41] निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011, पृ. 27

[42] जयशंकर, "विकल तीर्थयात्री के साथ", अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमलल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 139-140

"एक शहर हमेशा के लिए एक शहर, एक मृत्यु हमेशा के लिए एक मृत्यु; उसके जाने के बाद भी बाराखंभा रोड की सड़क चलती रहेगी, मंडी हाउस के आगे वह पेड़ खड़ा रहेगा जिसे पकड़ कर एक रात अंधेरे में नित्ती भाई खड़े थे; सप्रू हाउस की झांड़ियां, सिगरेट की दुकान, हवा में लहराते पेड़ ज्यों-के-त्यों खड़े रहेंगे और बरसों बाद जब कोई इस सड़क से गुजरेगा, उसे पता भी नहीं चलेगा कि यहां बहुत पहले एक लड़की एक छोटे से लड़के के साथ जाती थी और वह लड़का इलाहाबाद से आया था और वह लड़की रोड साइन के तख्ते पर सिर रखकर रोई थी...

क्या यह एक तरह की मृत्यु है?"[43]

अंतिम अरण्य उपन्यास में दीवा की मृत्यु बीमारी से होती है। और दीवा के मरने के बाद मिस्टर मेहरा में जीने की कोई इच्छा नहीं है। कथावाचक कहता है- "अब तक उनकी मृत्यु से डरता हुआ आया था, तब क्या मालूम था कि मनुष्य की असली यात्रा मृत्यु से पहले शुरू होती है, जब वह जीने की पक्की सड़क छोड़कर किसी अंजानी पगडंडी की ओर मुड़ जाता है, जो जीने और मृत्यु से अलग किसी और दिशा की ओर जाती है।"[44] मिस्टर मेहरा अब उस अवस्था में पहुंच चुके थेजहां अब उनकी काया ही शेष रह गई थी। उनकी इस अवस्था को देख उनका नौकर मुरलीधर कहता है- "हमारे दादा तो सड़क पर चलते

---

[43] निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011, पृ. 242

[44] निर्मल वर्मा, *अंतिम अरण्य*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011, पृ. 164

आदमी को देखकर ही भाग लेते थे कि वह जिंदा है या सिर्फ उसकी ठठर छाया चली जा रही है…"[45]

इस उपन्यास में मृत्यु संबंधी ऐसे कई प्रश्नों को उठाया गया है जो जीवन और मृत्यु संबंधी बीमारियों के बीच हम एक कठोर सत्य से अवगत कराता है। "मृत्यु- एकमात्र चीज जिसके बारे में हम निश्चिंत होते हैं... क्या वह भी आदमी को आखिरी मौके पर धोखा दे सकती है? हम यह भी नहीं जान पाते, वह अपने साथ किसे ले गई है... क्या उसे जिसे हम जानते थे या किसी और को, जिसे जानने की कभी मुहलत नहीं मिली?"[46]

मृत्यु संबंधी ऐसे प्रश्न निर्मल की रचनाओं को दर्शन के करीब ले जाते हैं। निर्मल का अंतिम उपन्यास *अंतिम अरण्य* मृत्यु और आसन्न मृत्यु संबंधी सवालों से ही संबंधित है।

[45] वही, पृ 86

[46] वही, पृ 86

उपसंहार

स्वतंत्रता पश्चात हिंदी साहित्य के क्षेत्र में नई संभावनाओं और नई दिशा दिखाने वाले रचनाकारों में निर्मल वर्मा का स्थान अग्रणी है। निर्मल का आगमन साहित्य में जीवन यथार्थ के सहज चित्रण के साथ हुआ है। उनकी रचनाओं का जीवन सत्य कुछ अर्थों में सरल है तो कुछ अर्थों में जटिल भी । उनकी रचनाशीलता नई कहानी के दौर की रचनाशीलता है। स्वतंत्रता पश्चात आधुनिक जीवन शैली की विडंबनायें और उससे उत्पन्न समस्याएं जहां उनकी रचनाओं के केंद्र में है वही उनके स्वयं के बिताए विदेशी प्रवास और पाश्चात्य जीवनानुभवों का प्रभाव भी उनकी रचनाओं में मौजूद है। उनकी ज्यादातर रचनाएं बौद्धिक वर्ग और उनकी समस्याओं से जुड़ी है। सही मायने में निर्मल की रचनाएं हिंदी साहित्य में चुनौती की तरह हैं। निर्मल ने गद्य की लगभग हर विधाओं पर लिखा है। उपन्यास और कहानी के अतिरिक्त यात्रा वृतांत, संस्मरण, डायरी, आलोचना और अनेक निबंध अत्यंत उल्लेखनीय है।

निर्मल की रचनाएं समूह से ज्यादा व्यक्ति विशेष के चित्रण के रूप में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और मनोविश्लेषणवादी यथार्थ को प्रकट करने में सक्षम हैं। निर्मल की स्वीकारोक्ति भी है कि जैनेंद्र और अज्ञेय की रचनाशीलता उनकी रचनाशीलता के ज्यादा निकट है। यही नहीं निर्मल की रचनाओं पर चेखव, टी एस इलियट, प्रूस्त, नीत्से, टॉमस मान, रिल्के, वर्जीनिया वुल्फ, आदि का भी प्रभाव है। निर्मल पात्रों की विशिष्ट मानसिक स्थिति रचने वाले रचनाकार हैं। उपन्यास हो या कहानी ज्यादातर बौद्धिक वर्ग और पात्रों की मन: स्थिति उनकी रचनाओं का केंद्रीय थीम है। आधुनिक व्यक्ति द्वंद में

जीने के लिए अभिशप्त है। अकेलापन, अवसाद, पीड़ा, आत्म निर्वासन, आत्म संकट, आदि की अभिव्यक्ति इसी अंतर्द्वंद का परिणाम है।

यह सच है कि निर्मल की रचनाओं में उच्च मध्यवर्ग, मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की समस्याएं ही मुख्यतः केंद्र में रहा है। निम्न वर्ग की एक तरह से गायब है और अगर है भी तो घरेलू नौकर या सेवा प्रदान करने वाले कारक के रूप में । उसकी संवेदनाएं को बहुत ज्यादा इनकी रचनाओं में जगह नहीं मिली है ।एक चिथड़ा सुख की बिट्टी डैरी से कहती है कि तुम बिहार जा चुके हो, भूख और गरीबी देख चुके हो। बिट्टी की नजर में डैरी का भूख और गरीबी को ऐसे देखना ही महत्वपूर्ण है। डैरी के पास उस भूख और गरीबी को दूर करने के लिए कोई विजन नहीं है। इसी तरह बिट्टी के अंदर सेवा भाव दिखाने के लिए उसकी साम्यता मदर टेरेसा से दिखाते हैं, पर इन तथ्यों को न थोड़ा भी विस्तार दिया गया है ना इसके पीछे कोई ठोस वजह या तारतम्य उपन्यास में दिखाया गया है। यही नहीं निर्मल ने जब बेरोजगारी पर भी लिखा है तब वह बेरोजगारी लंदन गए किसी व्यक्ति की है या विदेशों में स्कालरशिप पर रह रहे इंडी जैसे किसी छात्र की है या सितंबर की शाम या माया के मर्म जैसे कहानियों के पढ़े-लिखे युवा वर्ग की बेरोजगारी से संबंध है। लेकिन सवाल यहां यह भी है कि क्या एक लेखक बड़ा कृतिकार तभी है यदि उसने निम्न वर्ग को ही कथा के केंद्र में रखा है या उसके और उसके संघर्ष को ही महत्व दिया है। आलोचकीय दृष्टि से यह बिंदु अत्यंत महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि वह अपनी रचनात्मकता को लेकर जितने चर्चित हैं उतने ही विवादास्पद भी। अभिजात्य संस्कृति उनकी प्रकृति में है किंतु यह आभिजात्यता किसी वर्ग विशेष में नहीं है यह उनके संस्कार का हिस्सा है। निर्मल पात्रों की विशिष्ट मानसिक स्थिति रचने वाले रचनाकार हैं।

उपन्यास हो या कहानी ज्यादातर बौद्धिक वर्ग और पात्रों की मन स्थिति संक्रमण कालीन स्थिति से प्रभावित है।

परंतु यह उनकी रचनाओं का एकपक्षीय स्वरूप है, उनका पूरा व्यक्तित्व अन्य कई तत्वों की भी मांग करता है क्योंकि निर्मल ने व्यक्तित्व पर वामपंथ का भी प्रभाव है और उससे मोहभंग भी । उन्होंने अपने निबंधों में विस्थापितों की समस्याएं भी उठाई हैं और भारतीय संस्कृति, कला संबंधी विमर्शों को भी पर्याप्त स्थान दिया है। इसलिए प्रत्यक्षतः वर्ग-संघर्ष ना होते हुए भी भारतीय और पश्चिमी मूल्यों की टकराहट और व्यक्ति मन के अंतर्द्वंदों और संघर्षों को उनकी रचनाओं में विशिष्टता प्राप्त है। अगर कथा साहित्य में प्रामाणिकता और संघर्षों के अभाव की बात की जाए ऐसे में यह सवाल महत्वपूर्ण है कि किसी रचना की विश्वसनीयता क्या है? निर्मल ने अपने संचयन "शताब्दी के ढलते वर्षों में" लिखे गए अपने लेख "संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास" मैं स्वयं इस बात को उठाया है कि किसी उपन्यास की विश्वसनीयता क्या यह है कि वह जिंदगी के कितने पास है? "... उस की घटनाएं कितनी 'विश्वसनीय' हैं ('विश्वसनीयता' कभी साहित्य की कसौटी नहीं रही, वरना शेक्सपियर सबसे अधिक सफल लेखक होते), या उपन्यास के पात्र कितने ' यथार्थ पूर्ण' हैं ('यथार्थ' बिजली का कोई बल्ब नहीं जिसके पास जाकर कोई साहित्य विधा चमक जाती हो और दूर जाकर धुंधला जाती हो)। उपन्यास की

अर्थवत्ता 'यथार्थ' में नहीं, उस से समेटने की प्रक्रिया, उसके संगठन की अंदरूनी चालक शक्ति में निहित है।"[1]

निर्मल ने वे दिन, लाल टीन की छत, एक चिथड़ा सुख, रात का रिपोर्टर और अंतिम अरण्य उपन्यास लिखा है जिसमें विभिन्न संवेदनाओं को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट किया गया है। वे दिन उपन्यास युद्ध उत्तर स्थिति से प्रभावित है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र रायना युद्ध के खत्म होने के बाद भी युद्ध की छाया से अपने को मुक्त नहीं कर पाती और वह अतीत में ही जी रही होती है। इसी तरह रात का रिपोर्टर का नायक ऋषि आपातकाल के समय के आंतरिक संकट का शिकार है। यह जानने के बाद की खुफिया पुलिस के पास संदिग्धों की कोई लिस्ट है जिसमें से उसका भी एक नाम है उसकी पूरी दिनचर्या बदल जाती है। वह हर समय सशंकित रहता है। लेखक ने पूरी सूक्ष्मता से उसके अंत: और बाह्य के द्वंद को दिखाया है। शासन की शंका का शिकार बुद्धिजीवी रिपोर्टर करना तो बहुत कुछ चाहता है पर वह क्या कर पाता है? अंततः अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों और नैतिक जिम्मेदारियों के बीच जूझता ऋषि किसी के साथ न्याय नहीं कर पाता; ना अपने साथ, न अपनी पत्नी उमा के साथ, न प्रेमिका बिंदु के साथ।भय और आशंका के बीच फंसा रिशी रिपोर्टर की जिम्मेदारी भी पूरी तरह नहीं निभा पाता। दरअसल, इस उपन्यास में लेखक का एक संकेत है कि आज का व्यक्ति खंडित व्यक्ति है वह अभिशप्त है। वह चाहकर भी 'होरी' या 'शेखर' नहीं हो सकता क्योंकि वह समय बदल

[1] निर्मल वर्मा, "संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास", *शताब्दी के ढलते वर्षों में,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, 2006, पृ. 115

चुका है, यथार्थ बदल चुका है। यहां यह महत्वपूर्ण है कि जरूरी नहीं कि एक किसान या व्यवस्था से विद्रोह करने वाला व्यक्ति ज्यादा यथार्थवादी है तुलनात्मक रूप से एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के।

निर्मल की रचनाओं पर अतीत और स्मृति में जीने वाले रचनाकार होने का आरोप लगाया जाता रहा है। अतीत और स्मृति निर्मल के यहां इतिहास बोध और परंपरा से सम्बद्ध है। "मनुष्य अपना इतिहास खुद बनाता है, किंतु वह 'कच्चा माल' जिससे इतिहास बनता है, वह अनुभव राशि जिसकी मिट्टी से अपना भविष्य गढ़ता है, कहीं और नहीं, उसके अतीत बोध में सन्निहित है।"[2] रही बात स्मृति की तब स्मृति केवल विलुप्त होने वाले तत्व नहीं है बल्कि वह पद चिन्ह है जिस पर चलकर मनुष्य वर्तमान को परिभाषित करता है। अंतिम अरण्य उपन्यास की दीवा की बीमारी की वजह से मौत हो जाती है पर मरने के बाद भी वह इस उपन्यास के हर पात्र की स्मृतियों में कहीं ना कहीं जीवित है पर यह स्मृतियां जीवन की अभिन्न हिस्सा है वह थोपी नहीं गई है वह व्यक्ति के साथ साथ चलती है। परिंदे कहानी की लतिका अपने प्रेमी के मरने के बाद उसकी याद में स्मृतियों में ही जीती है। स्मृतियों को संजोना या उसमें जीना नकारात्मकता नहीं है बल्कि यह यथार्थ है।

निर्मल ने अपनी रचनाओं में बीमारी, बुढ़ापा, मृत्यु और आत्महत्या जैसी समस्याएं जो आज के समय के समाज का कटु यथार्थ है पर पर्याप्त लिखा है। एक चिथड़ा सुख के नीति भाई भी पत्नी और प्रेमिका के बीच फंसे अंततः आत्महत्या कर लेते हैं। अंतिम अरण्य

---

[2] निर्मल वर्मा, "परंपरा और इतिहास बोध", *सर्जना पथ के सहयात्री* , भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2008, पृ.35

उपन्यास मृत्यु और आसन्न मृत्यु पर ही केंद्रित है। लाल टीन की छत की मिस जोसुआ की मृत्यु और सिमिट्री में उसका स्थान है इसकी चर्चा है। वे दिन उपन्यास तो युद्धोंत्तर परिस्थिति और युद्ध की समाप्ति के बाद भी मृत्यु की छाया के इर्द-गिर्द ही बुनी गई है। 'सुबह की सैर' का कर्नल निहालचंद अकेलेपन से घबरा कर आत्महत्या कर लेता है। 'डायरी का खेल' की बिट्टी बीमार है और उसे पता है कि वह ज्यादा दिन नहीं बचेगी। ट्रेन में उसकी नींद यह सोचकर टूट जाती है कि मरने से पहले सोते रहना कैसा अजीब होगा इसी डर से उसे नींद नहीं आती।

मैंने पहले भी अपने शोध कार्य में इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि निर्मल की रचनाओं को परंपरागत आलोचना दृष्टि के माध्यम से नहीं देखा जा सकता है। यहां जरूरत है एक नई आलोचनात्मक दृष्टि की जो निर्मल की रचनाओं को समझ सके और उसकी पड़ताल कर सके। निर्मल के यहां की समस्याएं और यथार्थ अपने भिन्न कलेवर में है। वैयक्तिक यथार्थ सामाजिक यथार्थ से निरपेक्ष नहीं होता। आज का समाज सिर्फ समूह के यथार्थ को अभिव्यक्त नहीं करता, यह अलग अलग व्यक्ति के अलग-अलग यथार्थ के पुंज के रूप में इकट्ठा होकर फिर समूह का निर्माण कर रहा है। निर्मल के यहां यथार्थ बहुत बारीक हैं, उनकी रचनाओं में निहित ग्रहण यथार्थ को समझने के लिए उनकी काव्यात्मक गद्य को समझना होगा। प्रश्न यहां यह है कि निर्मल की रचनाओं में अभिव्यक्त यथार्थ आज का यथार्थ नहीं है? वह प्रासंगिक नहीं है? क्या व्यक्ति की

संवेदनाएं बंट नहीं गई हैं? निश्चित रूप से निर्मल का साहित्य आज की समस्याओं और संवेदना ओं को अभिव्यक्त करने में ज्यादा सक्षम है।

निर्मल गद्य में भी पद्य भरने वाले रचनाकार हैं। उनकी कहानियों का बिम्ब, कविता के प्रतिमानों से ज्यादा निकट प्रतीत होता है। तभी ध्रुव शुक्ल ने अपने लेख "आधुनिक मनुष्य के आत्म का नया छंद" में लिखा है- “निर्मल वर्मा का गद्य पढ़ते हुए लगता है कि वह आत्मा का गद्य है- आधुनिक मनुष्य की आत्म का नया छंद। उनके उपन्यासों, कहानिययों, चिंतन और यात्रा वृतांतों में वह मध्यलय है जो इस सभ्यता की लय-गति और उसके पद विन्यास की आहटों को तो अपनी में समोती ही है साथ ही वह इन नई आहटों के बीच उन ध्वनियों को खोजकर अपने में स्थान देती है जो बहुत समय पहले जीवन छंद से विचलित होकर यहां-वहां भटक गई हैं। उन ध्वनियों के धागों में शब्दों को पिरोता निर्मल जी का गद्य ऐसे गल्प-चिंतन को रखता है जो काव्यात्मक आनंद के निकट ले जाता है।"[3]

मलयज ने निर्मल के गद्य को धूप छाहीं गद्य कहा है। “वे चिलचिलाती धूप के लिए ‘तितीरी’धूप लिखते हैं। तितीरी शब्द में चमक तो है पर दाह नहीं। यह गद्य स्मृति की कविता का गद्य है, वर्तमान की आंच में तपता सपाट मैदानी गद्य नहीं। समर्थ गद्य हां, पर शशक्त गद्य, नहीं। क्योंकि इस गद्य की मांसपेशियां ना लड़ने भिड़ने से गैर-तत्व

[3] ध्रुव शुक्ल, "आधुनिक मनुष्य के आत्म का नया छंद”, अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 129

के साथ जोर आजमाइश न करने के कारण चीमड़ हो गई हैं, ... आप उससे फखड़कते नहीं, चकित नहीं होते, उठते नहीं, बस डूबने लगते हैं, उड़ते नहीं, सिकुड़ते हैं, पैलते नहीं, बंद होने लगते हैं, खुलते नहीं।"[4]

ऐसे ही निर्मल के यहां प्रकृति भी शब्दों का रस लेती है। अप्रैल की धूप, अगस्त का आकाश, दिसंबर का आकाश -अबाध और नीरव, इंग्लैंड की पीली और मुलायम धूप, पत्तों की सरसराहट, पेड़, पहाड़, धूप, कोहरा, बादल सड़ते हुए पीले पत्तों से एक अजीब नशीली सी बोझिल कसैली गंध, टोस्टेज के गंध, सौसेज के गंध; यह कुछ ऐसे तत्व हैं जो आंचलिक कथाकार की याद दिलाते हैं। जैसे आंचलिक रचनाओं में रेणु ने शब्दों के माध्यम से रूप, रस, स्पर्श, गंध, ध्वनि, को जगह दी है वैसे ही निर्मल ने शहरी जीवन के वर्णन में रूप, रस, स्पर्श, गंध, ध्वनि, से रचना को आलोड़ित किया है। यही नहीं जैसे आंचलिक रचनाकार जगह विशेष की चर्चा से परहेज नहीं रखते निर्मल के यहां भी लंदन, वियना, प्राग, वेनिस, इंग्लैंड, दिल्ली, शिमला, रानीखेत, कनॉट प्लेस, मॉल रोड, आदि का वर्णन है।

निर्मल का यथार्थ आस्था और आधुनिकता का सम्मिश्रण है। निर्मल की रचनाओं में जिस प्रकार जीवन मृत्यु संबंधी प्रश्न, आस्था-अनास्था का द्वंद, प्रकृति और धर्म का संबंध, मिथक चेतना, अध्यात्म के प्रति आकर्षण जैसे तत्व आपस में संबद्ध भी है और उलझे भी

---

[4] मलयज, "स्मृति में बंद रचना" अशोक वाजपेयी (सं.)- *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृ. 179

हैं, कई बार दार्शन का रूप लेती है ।सही मायने में निर्मल का यथार्थ यथार्थवाद नहीं है वह एक जीवन संघर्ष है। इस संघर्ष में उन्होंने अपने को जहां पाया जैसे पाया अभिव्यक्त किया। उनकी यह अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं को नई जीवन सृष्टि देती है।

आधार ग्रन्थ सूची

उपन्यास

- निर्मल वर्मा, *वे दिन*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010
- निर्मल वर्मा, *लाल टीन की छत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण 2011
- निर्मल वर्मा, *एक चिथड़ा सुख*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण: 2011
- निर्मल वर्मा, *रात का रिपोर्टर*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2010
- निर्मल वर्मा, *अंतिम अरण्य*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011

कहानी संग्रह

- निर्मल वर्मा, *परिंदे*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012
- निर्मल वर्मा, *जलती झाड़ी*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010
- निर्मल वर्मा, *पिछली गर्मियों में*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010

- निर्मल वर्मा, *बीच बहस में,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2010
- निर्मल वर्मा, *क़व्वे और काला पानी,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2009,
- निर्मल वर्मा, *सूखा तथा अन्य कहानियाँ,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2012

अन्य लेखन

- निर्मल वर्मा, *दूसरी दुनिया,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
- निर्मल वर्मा, *साहित्य का आत्म सत्य,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010
- निर्मल वर्मा, *शताब्दी के ढलते वर्षों में,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, 2006
- निर्मल वर्मा, *सर्जना पथ के सहयात्री,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2008
- निर्मल वर्मा, *आदि, अंत और आरम्भ,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2017

- निर्मल वर्मा, *दूसरे शब्दों में*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2008
- निर्मल वर्मा, *तीन एकांत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2015
- निर्मल वर्मा, *तीन एकांत*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2015
- निर्मल वर्मा, *भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2001

संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography):

- आचार्य नंदकिशोर, *अंतर्यात्रा: निर्मल वर्मा*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003;
- आचार्य नंदकिशोर, *अवलोकन: निर्मल वर्मा*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003;
- अशोक वाजपेयी (सं.) *निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990;
- डॉ. प्रेम सिंह (सं.), *निर्मल वर्मा: सृजन और चिंतन*, फिफ्थ डायमेंशन पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 1989;
- डॉ. गगन गिल (सं.), *प्रिय राम* (निर्मल वर्मा के पत्र), भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2006;
- डॉ. गगन गिल, *निर्मल*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2012;

- कृष्ण दत्त पालीवाल, *निर्मल वर्मा और उत्तर औपनिवेशिक विमर्श*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012
- डॉ. सुधीश पचौरी, *निर्मल वर्मा और उत्तर उपनिवेशवाद*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003;
- अशोक वाजपेयी (सं.), *स्मृति में बंद रचना: निर्मल वर्मा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990;
- डॉ. मदन सोनी, *कथापुरुष निर्मल वर्मा पर चार निबंध*, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2000;
- अशोक वाजपेयी, डॉ. मदन सोनी एवं डॉ. ध्रुव शुक्ल (सं.), *निर्मल वर्मा के कथादेश में*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990;
- मोहन राकेश, *साहित्य और संस्कृति*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990;
- जैनेन्द्र कुमार, *कहानी: अनुभव और शिल्प*, पूर्वोदय, दिल्ली, 1973;
- सच्चिदानंद वात्स्यायन (सं.) *भारतीय कला दृष्टि*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1985;
- सच्चिदानंद वात्स्यायन (सं.), *सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा*, नेशनल पौब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1986;
- कमलेश्वर, *नई कहानी की भूमिका*, अक्षर प्रकाशन, 1966;

- मलयज, *संवाद और एकालाप*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1984;
- डॉ. नामवर सिंह, *कहानी नयी कहानी*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982;
- डॉ. राजेंद्र यादव, *कहानी: स्वरुप और संवेदना*, नेशनल पौब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1968;
- मार्कण्डेय, *कहानी की बात*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984;
- इंद्रनाथ मदान, *आधुनिकता और हिंदी उपन्यास,* राजकमलल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981
- डॉ. रामदरश मिश्र, *हिंदी उपन्यास: एक अन्तर्यात्रा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992;
- नेमिचन्द्र जैन, *अधूरे साक्षात्कार*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1989;
- शिवप्रसाद सिंह, *आधुनिक परिवेश और नवलेखन*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970;
- निर्मला जैन एवं नित्यानंद तिवारी (संपा), *हिंदी उपन्यास 1950 के बाद*, नेशनल पौब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987;
- डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, *छायावादोत्तर हिन्दीद गद्य साहित्य*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1968;

- विजयमोहन सिंह, *आधुनिक हिंदी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना*, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972;
- विजयमोहन सिंह, *आज की कहानी*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1983;
- परमानंद श्रीवासतव, *उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1976;
- परमानंद श्रीवास्तव, *हिंदी कहानी की रचना प्रक्रिया*, ग्रन्थम् प्रकाशन, 1965;
- सुरेन्द्र, *नयी कहानी: प्रकृति और पथ*, परिवेश, जयपुर, 1968;
- डॉ. देवीशंकर अवस्थी, *नयी कहानी संधर्भ और प्रकृति*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1973;
- डॉ. देवी शंकर अवस्थी, *विवेक के रंग,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1995;
- डॉ. देवी शंकर अवस्थी एवं परमानन्द श्रीवास्तव (सं.) *नयी कहानी: सन्दर्भ और प्रकृति*, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1966;
- डॉ. शिवकुमार मिश्र, *यथार्थवाद*, मैकमिलन कंपनी, दिल्ली, 1978;
- डॉ. शिवकुमार मिश्र, *प्रेमचंद: विरासत का सवाल*, पीपुल्स लिटरेसी, नयी दिल्ली, 1981;

- रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी गद्य: विन्यास और विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996;
- मैनेजर पांडेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989;
- मैनेजर पांडेय, *शब्द और कर्म*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997;
- डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, *कुछ कहानिया, कुछ विचार*, राजकमल दिल्ली, 1998;
- डॉ. गोविन्द रजनीश, *साहित्य का सामाजिक यथार्थ*, चिन्मय प्रकाशन, 1992;
- डॉ. नरेंद्र मोहन, *रचना का सच*, संजय प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006;
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 1973;
- रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986;
- डॉ. नगेंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नेशनल पौब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1991;
- डॉ. विजयेंद्र स्नातक, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1996;

- डॉ. बच्चन सिंह, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
- मधुरेश, *हिंदी कहानी का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
- राम स्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005
- विजय मोहन सिंह, *कथा समय*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2002
- मदन गोपाल, *कलम का मजदूर: प्रेमचंद*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2010
- डॉ. इंद्रनाथ मदान, *प्रेमचंद: एक विवेचन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989
- गोपाल राय, *हिंदी कहानी का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011,
- डॉ. शरण कुमार लिम्बाले, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, वाणी प्रकाशन, 2010
- गोपाल राय, *हिंदी उपन्यास का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, 2010
- मधुरेश, *हिंदी उपन्यास का विकास*, सुमित प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 2008
- डॉ. रामविलास शर्मा, *प्रेमचंद और उनका युग*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

- डॉ० रामविलास शर्मा, आस्था और सौन्दर्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009;
- फणीश्वरनाथ 'रेणु' (2003) *मैला आँचल*, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली,
- डॉ० त्रिभुवन सिंह, *हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद,* हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

पत्र-पत्रिकाएँ

- पूर्वग्रह, जुलाई-अक्टूबर, 1978, (स.) अशोक वाजपेयी,
- *सारिका*, जून 1978, (सं.) कनहैयलल नंदन,
- *सारिका*, जनवरी 1980, (सं.) कनहैयलल नंदन
- *पूर्वग्रह*, अंक 97, 1990, स. अशोक वाजपेयी,
- *आलोचना,* संपा. काशीनाथ विश्वनाथ राजवाडे, 'उपन्यास', जनवरी-मार्च 1988
- *आलोचना*, संपा. नामवर सिंह, अंक 90, जुलाई-सितम्बर, 1989
- *पूर्वग्रह*, संपा. अशोक वाजपेयी, अंक-97, मार्च-अप्रैल 1990;
- *आजकल*, संपा. द्रोणवीर कोहली, अंक 9, पूर्णांक 425, जनवरी, 1980;

  अंक 2, पूर्णांक 430, जून, 1980